॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥
४
-पं श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रज्ञोपनिषद्

चतुर्थ खंड

☆

संपादक

ब्रह्मवर्चस

☆

प्रकाशक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा—२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

प्राक्कथन

परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने 'प्रज्ञापुराण' के रूप में जन-जन को लोक-शिक्षण का एक नया आयाम दिया है। इसमें उनने चिरपुरातन उपनिषद् शैली में आज के युग की समस्याओं का समाधान दिया। यह क्रांतिदर्शी चिंतन उनकी लेखनी से जब निस्सृत हुआ तो इसने पूरे क्षेत्र को उद्वेलित करके रख दिया। वस्तुतः यह पुरुषार्थ हजारों वर्षों बाद सप्तर्षियों की मेधा के समुच्चय को लेकर जन्मे प्रज्ञावतार के प्रतिरूप आचार्यश्री द्वारा जिस तरह किया गया, उसने इस राष्ट्र व विश्व की मनीषा को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया।

प्रज्ञा पुराण की रचना परमपूज्य गुरुदेव ने क्यों की? इस तथ्य को समझने के लिए प्रज्ञा पुराण के प्रथम खंड की भूमिका में उनके द्वारा लिखे गए अंश ध्यान देने योग्य हैं—'अपना युग अभूतपूर्व एवं असाधारण रूप से उलझी हुई समस्याओं का युग है। इनका निदान और समाधान भौतिक-क्षेत्र में नहीं, लोक-मानस में बढ़ती जा रही आदर्शों के प्रति अनास्था की परिणति है। काँटा जहाँ चुभा है, वहीं कुरेदना पड़ेगा। भ्रष्ट-चिंतन और दुष्ट आचरण के लिए प्रेरित करने वाली अनास्था को निरस्त करने के लिए ऋतंभरा महाप्रज्ञा के दर्शन एवं प्रयोग ब्रह्मास्त्र ही कारगर हो सकता है।

प्रस्तुत प्रज्ञा पुराण में भूतकाल के उदाहरणों से भविष्य के सृजन की संभावना के सुसंपन्न हो सकने की बात गले उतारने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि परिवर्तन प्रकरण को संपन्न करने के लिए वर्तमान में किस रीति-नीति को अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी और किस प्रकार जाग्रतात्माओं को अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना होगा।

उन्होंने इसे उपनिषद् शैली में ऋषियों के संवाद रूप में प्रकट किया। जनसामान्य के लिए पुराणों वाली कथा-शैली अधिक रुचिकर एवं ग्राह्य होती है, इसलिए उन्होंने उपनिषद् सूत्रों के साथ प्रेरक कथानक एवं संस्मरण जोड़कर उसे पुराण रूप दिया। इस रूप में चार खंड प्रकाशित हुए, यह इतने लोकप्रिय हुए कि सन् १९७९ से अब तक बीस से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वाध्यायशीलों के लिए उन्होंने इसे प्रज्ञोपनिषद् के रूप में प्रकाशित करने का भी निर्देश दिया था। आचार्यश्री के वाङ्मय की इकाई के रूप में इसके छह खंडों को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया गया। उसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता को देखते हुए स्वाध्याय-प्रेमियों की सुविधा की दृष्टि से प्रज्ञोपनिषद् के छहों खंडों को अलग-अलग केवल श्लोक एवं टीका के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इसका नियमित स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए पूज्य आचार्यश्री ने प्रारंभिक निर्देशों में लिखा—

"दैनिक स्वाध्याय में इसका प्रयोग करना हो तो गीता पाठ, रामायण पाठ, गुरुग्रंथ साहब स्तर पर ही इसे पवित्र स्थान एवं श्रद्धाभरे वातावरण में धूप, दीप, अक्षत, पुष्प जैसे पूजा-प्रतीकों के साथ इसका वाचन करना-कराना चाहिए। जो पढ़ा जाए, समझ-समझकर धीरे-धीरे ही। प्रतिपादनों को अपने जीवनक्रम में सम्मिलित कर सकना, किस प्रकार, किस सीमा तक संभव हो सकता है, यह विचार करते हुए रुककर पढ़ा जाए।"

छहों खंडों की विषयवस्तु इस प्रकार है—प्रथम खंड में आज के युग की समस्याओं के मूल कारण आस्था-संकट का विवरण है। द्वितीय खंड धर्म के आधारभूत शाश्वत गुणों पर, तृतीय खंड परिवार-संस्था, गृहस्थ जीवन, नारीशक्ति के विभिन्न पक्षों पर, चतुर्थ खंड देव संस्कृति के आज लुप्त हो रहे उन पक्षों पर केंद्रित है, जिन पर भारतीय धर्म टिका है। पाँचवाँ खंड सर्वधर्म सद्भाव को समर्पित है, जो विश्व धर्म का भविष्य में आधार बनेगा। अंतिम छठा खंड वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की धुरी पर लिखा गया है। आर्य संस्कृति के यज्ञ विज्ञान, परोक्ष जगत आदि पक्ष वैज्ञानिक धर्म की पृष्ठभूमि में समझाए गए है।

उक्त छह प्रकरणों को पृथक-पृथक पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित करने का उद्देश्य यह है कि विज्ञजन इसका पाठ-अध्ययन नियमित रूप से करते रह सकें। इससे युगऋषि द्वारा अवतारित युगांतरकारी सूत्र जन-जन के विचारों एवं आचरण में प्रवेश करके युग परिवर्तन-उज्ज्वल भविष्य का ठोस आधार तैयार कर सकेंगे।

युगऋषि-प्रज्ञापुरुष की जन्म शताब्दी (२०११-२०१२) की तैयारी की वेला में उनका ही रचा यह युगदर्शन उन्हीं के चरणों में समर्पित है।

—**ब्रह्मवर्चस**

भूमिका

प्रज्ञोपनिषद् का प्रस्तुत खंड देव संस्कृति-भारतीय संस्कृति पर आधारित है। हमारी चिरपुरातन संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर इसके सात अध्याय केंद्रित हैं। आज जिस तरह पाश्चात्य सभ्यता हमारे दैनंदिन जीवन में प्रवेश करती जा रही है, इसका एक-एक सूत्र हमारे लिए उपयोगी है। परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी से जो प्रारंभिक प्रसंग इसमें आया है, इसमें महर्षि कात्यायन के गुरुकुल में विभिन्न गुरुकुलों के छात्र-अध्यापकों सहित आते हैं। एक सप्ताह का संस्कृति-सत्र आरंभ होता है। महर्षि सभी की जिज्ञासाओं का उत्तर देते हैं।

प्रथम अध्याय 'देव संस्कृति जिज्ञासा' पर ही आधारित है। विद्यालय विद्या का घर बनें एवं देव संस्कृति शिक्षा के साथ विद्या देने का ऋषि प्रणीत उपक्रम है, यह सत्राध्यक्ष बताते हैं। मात्र पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं, संस्कारों द्वारा जीवन- विद्या सिखाने की प्रक्रिया भी चले, यह सब जानते हैं। देव संस्कृति ही विश्व संस्कृति है, क्योंकि इसमें सामाजिकता के वे सभी गुण मौजूद हैं। यह भागीदारी कर रहे सत्रार्थी जानते हैं।

द्वितीय अध्याय वर्णाश्रम धर्म के मर्म पर टिका है। गुण-कर्म-स्वभाव पर ही वर्णों का विभाजन हुआ है तथा आश्रम जीवनक्रम का विभाजन है। बलिष्ठता एवं विद्या उपार्जन (ब्रह्मचर्य), परिवार-संस्था को सुसंस्कारिता की पाठशाला बनाना (गृहस्थ), परमार्थ हेतु जीवन के उत्तरार्द्ध का नियोजन (वानप्रस्थ एवं संन्यास) ये सभी बड़ी दूरदर्शितापूर्वक किए गए निर्धारण हैं।

तीसरा अध्याय 'संस्कार पर्व-माहात्म्य' पर है। नर-पशु, नर-पिशाच से ऊपर मानवीय गरिमापूर्ण जीवन कैसे जिया जाए, इसकी विशद व्याख्या इसमें है।

चतुर्थ अध्याय तीर्थ-देवालय प्रकरण पर है। देव दर्शन तीर्थयात्रा के माहात्म्य की चर्चा इसमें है। परिव्रज्या से जनजागरण एवं धर्मधारणा के विस्तार पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है।

पाँचवाँ अध्याय 'मरणोत्तर जीवन' पर है। देव संस्कृति अमरत्व में विश्वास रखती है एवं आत्मा की शाश्वत अनंत यात्रा की बात करती है। कर्मफल की व्यवस्था, पितरों के प्रति श्रद्धा, श्राद्ध-व्यवस्था एवं पुण्य-परमार्थ की इसमें विस्तृत व्याख्या है।

छठा अध्याय आस्था-संकट प्रकरण का है। प्रथम खंड में जो चर्चा देवर्षि नारद एवं भगवान विष्णु के बीच आरंभ हुई थी, उसी को इसमें बढ़ाया गया है एवं संस्कृतियों की टकराहट एवं भविष्य में अनास्था के समाधान के प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है।

सातवाँ अध्याय 'प्रज्ञावतार प्रकरण' का है। ऋषियों की आशंका महाप्रलय के विषय में है। महर्षि दसों अवतारों की कार्ययोजना पर विशेषकर निष्कलंक प्रज्ञावतार की आज के परितर्वन में होने जा रही भूमिका पर चर्चा करते हैं, वे कहते हैं—प्रज्ञावतार निराकार है। प्रज्ञापुत्र ही सद्‌बुद्धि द्वारा नया युग लाएँगे। निश्चित ही यह खंड हर धर्मप्रेमी के लिए पढ़ने योग्य है।

—ब्रह्मवर्चस

प्रज्ञोपनिषद्
चतुर्थ मंडल

विषय-सूची	पृष्ठ सं०

॥ गुरु-ईश-वंदना ॥

गुरु-ईश-वंदना के इन श्लोकों से भावपूर्ण वंदना करके 'प्रज्ञोपनिषद्' का पारायण प्रारंभ किया जा सकता है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप! ॥
भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
नमस्ते नमस्ते विभो! विश्वमूर्ते! नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते!।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य ! नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य!॥
वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥

ॐ वन्दे भगवतीं देवी, श्रीरामञ्च जगद्गुरुम्।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा, प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, गायत्री रूपिणे सदा।
यस्य वागमृतं हन्ति, विषं संसार संज्ञकम्॥

ॐ प्रखर प्रज्ञाय विद्महे, महाकालाय धीमहि, तन्नः श्रीरामः प्रचोदयात्॥ ॐ सजल श्रद्धायै विद्महे, महाशक्त्यै धीमहि, तन्नो भगवती प्रचोदयात्॥

॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥

॥ चतुर्थ मंडल ॥

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

देव संस्कृति-जिज्ञासा प्रकरण

गुरुकुलेषु तदाऽन्येषु छात्रा आसंस्तु ये समे।
गुरुजनैः सह ते सर्वेऽप्यायाता द्रष्टुत्सुकाः ॥ १ ॥
ऋषेः कात्यायनस्येमां व्यवस्थामुत्तमामपि ।
तस्याऽध्यापनशैली तां चर्यां च ब्रह्मचारिणाम् ॥ २ ॥
तैः श्रुतं यन्महर्षेर्यद् विद्यते गुरुकुलं शुभम्।
छात्रनिर्माणशालेव यत्रत्याः स्नातकास्तु ते ॥ ३ ॥
समुन्नता भवन्त्येवं मन्यंते संस्कृता अपि।
सफला लौकिके संति समर्था अपि जीवने ॥ ४ ॥
संपन्ना अपि चारित्र्य-संयुक्ता व्यक्तिरूपतः।
उदात्तास्ते तथैवोच्चैस्तरा गणयंत उत्तमैः ॥ ५ ॥

टीका—एक बार अन्यान्य गुरुकुलों के छात्र अपने-अपने गुरुजनों समेत महर्षि कात्यायन के आश्रम की व्यवस्था और अध्ययन शैली व दिनचर्या का पर्यवेक्षण करने आए। उनने सुना था कि कात्यायन का गुरुकुल टकसाल है, जिसमें पढ़कर निकलने वाले स्नातक न केवल समुन्नत होते हैं, वरन सुसंस्कृत भी माने जाते हैं। वे लौकिक जीवन में समर्थ, सफल और संपन्न रहते हैं तथा व्यक्तिगत जीवन में चरित्रवान, उदात्त एवं मूर्द्धन्य स्तर के गिने जाते हैं ॥ १-५ ॥

वैशिष्ट्यं चेदृशं छात्राः केनाधारेण यांति ते।
इदं द्रष्टुं च विज्ञातुं छात्रास्ते गुरुभिः सह॥ ६॥
विभिन्नेभ्यः समायाताः क्षेत्रेभ्य उत्सुका भृशम्।
तदागमनवृत्तं च सदस्यैर्ज्ञातमेव तत् ॥ ७॥

टीका—ऐसी विशेषताएँ किस आधार पर छात्रगण प्राप्त करते हैं? यह जानने-देखने की अभिलाषा लेकर वे छात्र मंडल अध्यापकों समेत विभिन्न क्षेत्रों, देशों से आए थे। उनके आगमन और उद्देश्य की पूर्वसूचना कात्यायन गुरुकुल के सभी छोटे-बड़े सदस्यों को विदित हो गई थी॥ ६-७॥

ध्यानेनागंतुकाः सर्वे दिनचर्या व्यवस्थितिम्।
कात्यायनाश्रमस्यास्य स्वच्छतां व्यस्ततामपि॥ ८॥
अनुशासनसम्मानं तत्रत्ये पाठ्यसंविधौ ।
सुसंस्कारित्वभावं तं व्यवहारेऽवतारितुम् ॥ ९॥
पालितुं च सदाचारमध्यापनमिवानिशम् ।
कर्त्तव्यं निजदायित्वं पालितुं चानुशासनम् ॥ १०॥
ध्यानं तत्र विशेषं हि दिनचर्यागतं ह्यभूत्।
वैशिष्ट्यं मौलिकं चाभूदेतदेवास्य सुदृढम्॥ ११॥

टीका—आगंतुकों ने कात्यायन आश्रम की दिनचर्या, व्यवस्था, स्वच्छता, व्यस्तता और अनुशासनप्रियता को ध्यानपूर्वक देखा। पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन-अध्यापन की भाँति ही सुसंस्कारिता को व्यवहार में उतारने तथा शिष्टाचार पालने, कर्त्तव्य-उत्तरदायित्व समझने और उन्हें पालने के लिए अनुशासन बरतने पर समुचित ध्यान दिया जाता था, यही इस आश्रम की सुदृढ़ मौलिकता थी॥ ८-११॥

नैवाध्ययनमेवात्र पर्याप्तं भवति त्वपि ।
नेतुं तान् प्रगतिं छात्रान् महामानवतामपि ॥ १२ ॥
व्यवहारे समावेशोऽभ्यासश्चापि विशेषतः ।
सदाशयसमुद्भूतो मतस्त्वावश्यकः सदा ॥ १३ ॥

टीका—व्यक्तित्वों को उभारने और सामान्य मनुष्यों को महामानव बनाने में मात्र अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होता। व्यवहार में सदाशयता का समावेश अभ्यास इसके लिए नितांत आवश्यक है। इस सिद्धांत को उस आश्रम में भली प्रकार चरितार्थ होते हुए सभी आगंतुकों ने पाया ॥ १२-१३ ॥

आश्रमस्थैस्तथा तत्र समायातैश्च निश्चितम् ।
अवरुद्ध्य तु सप्ताहं शिक्षा सा लौकिकी भवेत् ॥ १४ ॥
विद्याया विषये चर्चा याऽमृतत्वाय कल्पते ।
स्वभावे विनयं शीलं समाविष्टं करोति या ॥ १५ ॥
अपेक्ष्य लौकिकीं शिक्षां विद्या या त्वात्मवादिनी ।
तुलनायां महत्त्वं तु तस्या एवाधिकं मतम् ॥ १६ ॥
उपस्थिता जनाः सर्वे ज्ञातुमेतच्च विस्तरात् ।
ऐच्छन्येन समे तथ्यं कुर्युस्तेऽवगतं स्वतः ॥ १७ ॥

टीका—आगंतुकों और आश्रमवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि एक सप्ताह तक लौकिक जानकारियाँ देने वाला शिक्षाक्रम बंद रखा जाए और विद्या पर अधिक प्रकाश डाला जाए, जो अमृत कहलाती है और स्वभाव में विनयशील, शालीनता का समावेश करती है। लौकिक शिक्षा की तुलना में आत्मवादी विद्या का कितना अधिक महत्त्व है, इसे सभी उपस्थित जन और भी अधिक विस्तार से जानना चाहते थे। या इस तथ्य से किसी-न-किसी रूप में अवगत तो सभी थे ॥ १४-१७ ॥

साप्ताहिकं समारब्धं संस्कृतेः सत्रमुत्तमम्।
आगतः समुदायश्च यथास्थानमुपाविशत् ॥ १८ ॥
उद्बोधको महर्षिः सोऽगादीत्कात्यायनस्तदा।
प्रगतेः सार्वभौमाया नृणामाधारगानि तु ॥ १९ ॥
तथ्यानि यानि संप्राप्य स्फुलिंग इव शक्तिमान्।
विकासं पूर्णमासाद्य जीवो ब्रह्म भवेद् ध्रुवम्॥ २० ॥

टीका—एक सप्ताह का संस्कृति सत्र आरंभ हुआ। उपस्थित समुदाय अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर पंक्तिबद्ध होकर आसीन हुआ। उद्बोधनकर्त्ता महर्षि कात्यायन ने जिज्ञासुओं की आकांक्षा के अनुरूप मनुष्य की सर्वतोन्मुखी प्रगति के आधारभूत तथ्यों पर प्रकाश डालना आरंभ किया, जिन तथ्यों को प्राप्त कर शक्तिशाली चिनगारी के रूप में विद्यमान जीव पूर्ण विकास को प्राप्त कर ब्रह्मरूप बन जाता है॥ १८-२० ॥

कात्यायन उवाच—

भद्रा ! जन्मना मर्त्यः पशुवृत्तियुतो भवेत् ।
संचितो व्यवहारो यो योनिषु स हि निम्नगः॥ २१ ॥
भ्राम्यताशीतिसंख्यासु चतुरुत्तरकासु तु।
गरिम्णो मर्त्यभावस्य त्याज्यो विस्मर्य एव सः॥ २२ ॥
देवयोनिगरिम्णश्च योग्यानां गुणकर्मणाम्।
प्रकृतेरपि चाभ्यासः कर्त्तव्यो मर्त्यजन्मनि॥ २३ ॥
त्यागस्वीकारयोरेवानयोर्या प्रक्रिया मता।
देवसंस्कृतिरुक्ताऽतो देवत्वं नर आश्रयेत्॥ २४ ॥

टीका—कात्यायन बोले—हे भद्रजनो! मनुष्य जन्मतः पशुप्रवृत्ति का होता है। चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते समय, जो

व्यवहार संचित किया गया है, वह मनुष्य जीवन की गरिमा को देखते हुए ओछा पड़ता है। इसलिए उसे भुलाना-छोड़ना पड़ता है। इस देव योनि की गरिमा के उपयुक्त गुण-कर्म-स्वभाव का अभ्यास करना पड़ता है। इसी छोड़ने ग्रहण करने की उभयपक्षीय-प्रक्रिया को देव संस्कृति भी कहते हैं, जिससे मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है॥ २१-२४॥

नाञ्जसाऽभ्येति चैषा तु शिक्षा यत्नेन मानवैः।
शिक्षणीया भवत्येषा विद्या प्रोक्ता मनीषिभिः॥ २५॥
संबद्धा सुविधाभिस्तु साफल्येन च या तु सा।
क्षेत्रस्य भौतिकस्यात्र शिक्षा प्रोक्ता मनीषिभिः॥ २६॥
शिक्षाऽप्यस्ति च सा नूनमनिवार्या तथाऽपि तु।
अपूर्णैव तथैकांगं विना विद्या-समन्वयात्॥ २७॥

टीका—यह अनायास नहीं, अति प्रयत्नपूर्वक सीखनी और सिखानी पड़ती है। यही विद्या है शिक्षा उसे कहते हैं, जो भौतिक क्षेत्र की सुविधा-सफलता से संबंधित है। शिक्षा भी आवश्यक तो है, पर विद्या का समन्वय हुए बिना वह अपूर्ण एवं एकांगी ही रहती है॥ २५-२७॥

ज्ञानविज्ञानयोर्योगः पन्थानं प्रगतेः सदा।
सार्वत्रिक्याः प्रशस्तं स विदधाति न संशयः॥ २८॥
शरीरयात्रासौविध्य-संग्रहः क्रियते यथा।
तथैवात्मिकप्राखर्यप्राप्यते यततामपि॥ २९॥
विना तेन नरस्तिष्ठेन्नरवानररूपकः।
नरपामररूपो वा हेयप्रकृतिकारणात्॥ ३०॥

अविकासस्थितस्तिष्ठेदसंतुष्टस्तिरस्कृतः ।
स्वास्थ्यशिक्षा-साधनानां दृष्ट्या त्राससहश्च सः ॥ ३१ ॥

टीका—ज्ञान और विज्ञान का समन्वय ही सर्वतोन्मुखी प्रगति का पथप्रशस्त करता है। इसलिए शरीरयात्रा की सुविधाएँ जुटाने की तरह ही आत्मिक प्रखरता के लिए भी प्रयत्न होना चाहिए। उसके बिना मनुष्य को नर-वानर या नर-पामर बनकर रहना पड़ता है, हेय आदतों के कारण पिछड़ेपन के अतिरिक्त स्वास्थ्य तथा साधनों की दृष्टि से भी त्रास सहता है॥ २८-३१ ॥

सार्थकं जन्ममानुष्यं कर्तुमावश्यकं मतम्।
सुसंस्कारत्वमत्रैतद् व्यर्थं जन्मान्यथानृणाम्॥ ३२ ॥
तस्योपलब्धेरेषैव विद्यापद्धतिरुत्तमा ।
निश्चिताऽप्यनुभूता च शिक्षाविद्यासुसंगमः ॥ ३३ ॥
महत्त्वपूर्णो मंतव्यो नरैः सर्वत्र सर्वदा।
नो चेन्न स सदाचारं व्यवहर्तुं क्षमो भवेत्॥ ३४ ॥

टीका—मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए सुसंस्कारिता का संपादन नितांत आवश्यक माना गया है। विद्या उसी को उपलब्ध कराने की, सुनिश्चित एवं अनुभूत पद्धति है। अस्तु, शिक्षा के साथ विद्या के समावेश का महत्त्व सर्वत्र समझा जाना चाहिए नहीं तो, वह दैनिक जीवन में सदाचार का व्यवहार नहीं कर पाएगा॥ ३२-३४ ॥

आगतेषु गुरुष्वत्र महर्षिः स ऋतंभरः।
उत्थाय कृतवान् व्यक्तां जिज्ञासां नम्रभावतः ॥ ३५ ॥

टीका—आगंतुक अध्यापकों में से महामनीषी, महर्षि, ऋतंभर ने उठकर विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा व्यक्त की॥ ३५ ॥

ऋतंभर उवाच—

संस्कारिणीमिमां विद्यां विधातुं मर्त्यजीवने।
समाविष्टां विधिर्वाच्यो बोधबोधनयोः प्रभो॥ ३६॥

टीका—ऋतंभर ने कहा—भगवन्! सुसंस्कारी विद्या को मनुष्य जीवन में समाविष्ट करने की विधि-व्यवस्था समझाएँ। उसे किस प्रकार सीखा और सिखाया जाना चाहिए॥ ३६॥

कात्यायन उवाच—

भद्र एष शुभारंभः पितृभ्यां मर्त्यजीवने।
निजे कृत्वा परिष्कारं विधातव्यो यथा च तत्॥ ३७॥
बीजं भवति चोत्पत्तिः क्षुपाणां तादृशां भवेत्।
दायित्वं पितरौ बुद्ध्वा सच्चारित्र्यं च चिंतनम्॥ ३८॥
उच्चस्तरं तु गृह्णीयुर्भूत्वा कामातुरास्तु ते।
अनीप्सितां न चोत्पन्नां कुर्युः संततिमात्मनः॥ ३९॥

टीका—कात्यायन बोले—भद्रजनो! यह शुभारंभ माता-पिता को अपनी जीवनचर्या में सुधार, परिष्कार करके आरंभ करना चाहिए। जैसा बीज होता है, वैसी ही पौध उगता है। इसलिए जनक-जननी अपने महान उत्तरदायित्व को समझें और सुयोग्य संतान के लिए उच्चस्तरीय चिंतन और चरित्र अपनाएँ। कामातुर होकर अवांछनीय संतान उत्पन्न न करें॥ ३७-३९॥

अबोधाः शिशवो मातुरुदरावधितः स्वयं।
अभ्यस्तास्ते कुटुंबस्य ज्ञेयं वातावृतौ बहु॥ ४०॥
शिशूनां सप्तवर्षाणां प्रायो व्यक्तित्वनिर्मितिः।
पूर्णैव जायते चास्यामवधौ पारिवारिकी॥ ४१॥

वातावृतिः शिशून् कृत्वा पूर्णतस्तु प्रभावितान्।
सुनिश्चिते क्रमे चैतान् परिवर्तयति स्वयम्॥ ४२ ॥

टीका—अबोध शिशु माता के उदर से लेकर परिवार के वातावरण में बहुत कुछ सीख लेते हैं। सात वर्ष की आयु तक बच्चों का व्यक्तित्व बहुत बड़ी मात्रा में विनिर्मित हो चुका है। इस अवधि में पारिवारिक वातावरण का ही भला-बुरा प्रभाव बालकों को सुनिश्चित ढाँचे में ढालता है॥ ४०-४२ ॥

अतः पश्चाद् विनिर्मान्ति व्यक्तित्वं गुरवश्च ते।
नोपदेशेन पाठ्यैर्वा विषयैः संभवेदिदम्॥ ४३ ॥
गुरुकुलेषु निवासस्याऽध्यापनस्याऽपि च द्वयोः।
कार्यं सहैव सम्पन्नं जायते तेन तत्र च ॥ ४४ ॥
ग्रंथाऽध्यापनमात्रं न जायतेऽपितु विद्यते।
प्रबंधस्तत्र शिक्षाया व्यवहारस्य शोभनः ॥ ४५ ॥
सुयोग्य-परिवारस्य भूमिकां निर्वहंति ये।
यत्र वातावृतिः स्फूर्तिदाऽस्ति विद्यालयास्तु ते॥ ४६ ॥

टीका—इसके उपरांत गुरुजन बालकों का व्यक्तित्व बनाते हैं। यह कार्यमात्र उपदेश या पाठ्यक्रम के सहारे संपन्न नहीं होता। गुरुकुलों में निवास और अध्ययन के दोनों ही कार्य साथ-साथ चलते हैं। इसलिए वहाँ पुस्तक पढ़ाने का ही नहीं, व्यवहार सिखाने का भी प्रबंध किया जाता है। सुयोग्य परिवार की भूमिका जो निभा सकते हैं, जहाँ प्रेरणाप्रद वातावरण होता है, वस्तुतः वे ही विद्यालय कहलाने के अधिकारी हैं॥ ४३-४६ ॥

कुसंस्कारयुते वातावरणे याति विकृतिम्।
व्यक्तित्वं बालाकानां सा शिक्षा व्यर्थत्वमेति च॥ ४७ ॥

भौतिकी वर्तते चाल्पं महत्त्वं ज्ञानजं परम्।
प्रतिभाया महत्त्वेन युतायास्त्वधिकं मतम्॥ ४८॥

टीका—कुसंस्कारी वातावरण में बालकों के व्यक्तित्व उलटे बिगड़ते हैं। शिक्षा के रूप में जो भौतिक जानकारी प्राप्त हुई थी, वह भी निरर्थक चली जाती है। जानकारी का क्रम और संस्कारवान प्रतिभा का महत्त्व अधिक है॥ ४७-४८॥

वातावृतिः करोत्येतत्कार्यं संपन्नमञ्जसा।
मात्रमध्यापकस्त्वेतन्न कर्तुं प्रभवेदिह॥ ४९॥
शिक्षणेन महत्कार्यं परमध्यापको भवेत्।
स्वभावेन चरित्रेण व्यवहारेण चोच्चगः॥ ५०॥
काले सोऽध्यापनस्यात्र पाठयत्येव नो परम्।
अभिभावकदायित्वं तदा निर्वहति स्वयम्॥ ५१॥
दायित्वमेतद् यो यावन्निर्वहेद् वस्तुतस्तु सः।
अधिकारी गुरुत्वस्य वर्तते धन्यजीवनः॥ ५२॥

टीका—यह कार्य विद्यालय का वातावरण ही सरलता से संपन्न करता है। अकेला अध्यापक मात्र प्रशिक्षण के सहारे इतना महान कार्य संपन्न नहीं कर सकता। अध्यापक को अपना स्वभाव, चरित्र और व्यवहार भी उच्चस्तरीय रखना चाहिए; क्योंकि अध्यापनकाल में वह मात्र पढ़ाता ही नहीं, अभिभावकों और परिवार वालों की भी जिम्मेदारी निभाता है इसी जिम्मेदारी को, जो जितनी अच्छी तरह निभा सके, वही सच्चे अर्थों में गुरुजन कहलाने का अधिकारी है तथा उसका जीवन धन्य है॥ ४९-५२॥

ज्ञानात्पुस्तकसंबद्धादतिरिक्तं च कौशलम्।
व्यवहारसमुद्भूतं स्वभावः श्रेष्ठतां गतः॥ ५३॥

तयोर्निर्मितये भाव्यं वातावृत्याऽनुकूलया।
निर्देशेन तथाऽनेकैः साधनैरपि संततम् ॥५४॥
विशेषताभिरेताभिर्युता शिक्षणपद्धतिः ।
यत्रास्ते तत्र ये बाला पुष्टिं यांति पठन्त्यपि॥५५॥
प्रगतिं सार्वभौमां ते सन्ततं यांति च क्रमात्।
जीवने चाऽन्यमर्त्यानां कृते प्रामाणिकाश्च ते॥५६॥
परिवाराद् भूमिका सा प्रारब्धा सन्ततं चलेत्।
विद्यालस्य कैशोर्यं यावदत्येति बालकः॥५७॥
प्रौढतां परिपक्वत्वं गृह्णात्येव च नो यदा।
तदैव ज्ञेयं बालस्य जाता निर्मितिरुत्तमा॥५८॥

टीका—पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त व्यवहार, कौशल और श्रेष्ठता संपन्न स्वभाव बनाने के लिए तदनुरूप वातावरण, मार्गदर्शन एवं साधन भी होने चाहिए। ऐसी विशेषताओं से युक्त शिक्षणपद्धति जहाँ है, वहाँ पढ़ने, पलने और बढ़ने वाले बालक सर्वतोन्मुखी प्रगति करते हैं तथा जीवन में अन्य लोगों के लिए प्रमाण बनते हैं। अस्तु, घर-परिवार से विद्यालय की भूमिका आरंभ होकर तब तक चलती रहनी चाहिए, जब तक कच्ची आयु पार करके प्रौढ़ता-परिपक्वता की भूमिका न निभाने लगे। जब ऐसा हो जाए तब समझना चाहिए कि बालक का निर्माण हो गया॥५३-५८॥

भद्रा ! नरेषु संस्कारभावनायास्तु जागृतेः ।
दायित्वं बालकेष्वत्र जातेष्वपि युवस्वपि॥५९॥
समाप्तिं याति नो देवसंस्कृतिः प्राक् तु जन्मनः।
पश्चादपि च मृत्योस्तां कर्तुं संस्कारसंयुताम्॥६०॥

मानवीं चेतनां दिव्यमकार्षीत्क्रममुत्तमम्।
नोद्गच्छेत्पशुता मर्त्येऽनिवार्यं चाङ्गमत्र तु॥ ६१॥
इदं तु सभ्यता स्थूलनियमाश्रितमप्यलम् ।
सिद्ध्यतीह ततोऽग्रे च मनुष्ये बलिदानिनाम्॥ ६२॥
सतां समाजसंस्कारकर्तॄणां चित्तभूमिकाम्।
कर्तुं विकसितां तं च निर्मातुमृषिमुत्तमम् ॥ ६३॥
मनीषिणां महामर्त्यं देवदूतं समिष्यते।
संस्कृतेरिदमेवास्ति कार्यं मंगलदं नृणाम्॥ ६४॥

टीका—हे भद्रजनो ! मनुष्य में सुसंस्कारिता जगाने का उत्तरदायित्व बालकों के युवा हो जाने पर ही समाप्त हो जाता है। देव संस्कृति ने जन्म के पूर्व से मृत्यु के पश्चात तक मानव चेतना को संस्कारित करने का क्रम बनाया है। मनुष्य में पशुता के कुसंस्कार न उभरने देना उसका एक अनिवार्य पक्ष है। यह तो सभ्यता के स्थूल नियमों के माध्यम से भी किसी सीमा तक सध जाता है, किंतु इसे आगे मनुष्य में संत, सुधारक, शहीद की मनोभूमि विकसित करना उसे मनीषी, ऋषि, महामानव, देवदूत स्तर तक विकसित करना भी अभीष्ट है। यह कार्य संस्कृति का है॥ ५९-६४॥

विज्ञानं भौतिकं लोके पदार्थस्य तदौजसः ।
उपयोगं प्रशास्त्येव नियंत्रणमथापि च ॥ ६५॥
आश्रित्याध्यात्मविज्ञानमंतश्चैतन्यगं तथा ।
महाचैतन्यगं नूनं लभ्यतेऽत्रानुशासनम् ॥ ६६॥
नियंत्रिता पदार्थाः स्युरंतश्चेतनया तथा ।
जीवांतश्चेतना स्याच्च परचैतन्य संयुता ॥ ६७॥

विकासस्य सुखस्याथ शांतेः श्रेष्ठः क्रमस्त्वयम्।
देवसंस्कृतिरेनं च सिद्धान्तं सुप्रतिष्ठितम् ॥ ६८ ॥
नरस्य चिंतने कर्तुं चरित्रे सफला ह्यभूत्।
लोककल्याणमत्यर्थमस्मादेव ह्यभूत्ततः ॥ ६९ ॥
अतो विश्वस्तरेणेयं श्रेष्ठां याता च मान्यताम्।
निर्मांति मानवं या तु देवं वै देवसंस्कृतिः ॥ ७० ॥

टीका—भौतिक विज्ञान पदार्थ एवं पदार्थगत ऊर्जा के नियंत्रण और उपयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। अध्यात्म विज्ञान के सहारे अंतःचेतना तथा महत् चेतना के अनुशासन हस्तगत होते हैं। पदार्थ पर अंतःचेतना का नियंत्रण रहे, अंतःचेतना महत् चेतना से युक्त रहे। विकास और सुख-शांति का श्रेष्ठक्रम यही है। यह महान सिद्धांत, देव संस्कृति ने जन-जन के चिंतन और चरित्र में उतार देने में सफलता पाई है। इसी से महान लोक-कल्याण हुआ है। इसीलिए इसे विश्व स्तर पर श्रेष्ठ संस्कृति के रूप में मान्यता मिली है। यह मानव को देवता बनाती है, अतः देव संस्कृति कहलाती है ॥ ६५-७० ॥

विकसंति महात्मानः संस्कृतिश्चापि कुत्रचित्।
क्षेत्रे विशेष एवात्र परं बद्धा न सीम्नि ते ॥ ७१ ॥
विकासं भारते याता देवसंस्कृतिरित्यहो।
सत्यं परंतु सा विश्वसंस्कृतौ चिंतिता बुधैः ॥ ७२ ॥
गौरवं चेदमेवेयं गता काले महत्तरे ।
तदा विश्वं सुखं शांतिमन्वभूच्च निरंतरम् ॥ ७३ ॥

टीका—संत और संस्कृति किसी क्षेत्र में विकसित तो होते हैं, परंतु उन्हें किसी सीमा बंधन में बाँधा नहीं जा सकता। देव संस्कृति भारतभूमि में विकसित हुई, यह सत्य है, किंतु वह वस्तुतः विश्व

संस्कृति के रूप में मनीषियों द्वारा गढ़ी गई थी और यही गौरव उसे दीर्घकाल तक प्राप्त भी रहा। उस समय विश्व ने महान सुख-शांति अनुभव की॥ ७१-७३ ॥

आसुरीषु सदा शक्तिष्वलमाकर्षणं जनैः।
अन्वभावि भवत्येवानिष्टकारी सम तु तत्॥ ७४ ॥
बाह्याकर्षणमेतासु देवशक्तिषु तादृशम्।
जायते न परं त्वंतः सौन्दर्यं क्षमता च सा॥ ७५ ॥
कल्याणकारिणी नूनमद्वितीयैव विद्यते।
देवसंस्कृतिरित्यर्थं मानवं तत्प्रपञ्चतः॥ ७६ ॥
संरक्ष्य च सुरौपम्य विकासप्रेरणां तथा।
विधिं देवोपमं लोके यच्छतीह निरंतरम्॥ ७७ ॥

टीका—आसुरी शक्तियों में आकर्षण विशेष होता है, परंतु वे अनिष्टकारी होती हैं। देवशक्तियों में बाह्याकर्षण उतना नहीं होता, परंतु आंतरिक सुंदरता और कल्याणकारी क्षमता अद्वितीय होती है। देव संस्कृति मानवमात्र को आसुरी प्रपंच से बचाकर, देवोपम विकास की प्रेरणा और विधि-व्यवस्था प्रदान करती है॥ ७४-७७ ॥

संदेशवाहकाश्चास्याः स्व सदाचारतो जनान्।
प्रशिक्षितान् प्रकुर्वन्तः प्रेरितान् व्याचरन्भुवि॥ ७८ ॥
केवलं न मनुष्यास्ते प्राणिमात्रं तु सर्वदा।
अन्वभूवन् स्वतुल्यं च तेषामेषा मनःस्थितिः॥ ७९ ॥
प्रचंडात्मीयताधारमाधृत्याभूत्फलान्वितः।
उद्घोषो विश्वमाकर्तुं कुटुंबमिव वर्द्धितम्॥ ८० ॥

टीका—देव संस्कृति के महान संदेशवाहक अपने-अपने आचरण से जन-जन को प्रेरणा प्रशिक्षण देते सारे भूमंडल पर विचरते रहे हैं। वे मनुष्यों को ही नहीं, प्राणिमात्र को ही आत्मवत् अनुभव करते रहे हैं, क्योंकि उनकी मनःस्थिति ही ऐसी थी। इस प्रचंड आत्मीय भाव के आधार पर ही सारे विश्व को एंक कुटुंब के रूप में विकसित करने का उनका उद्घोष सफल होता जा रहा है॥ ७८-८०॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते 'देव संस्कृति-जिज्ञासा' इति प्रकरणो नाम

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

वर्णाश्रम धर्म प्रकरण

द्वितीये दिवसे चाद्य सत्रस्यास्यास्तु संस्कृतेः।
उत्साहः संगतानां स संतोषः श्लाघ्यतां गतौ॥ १॥
द्वितीयस्थ दिनस्याथ सत्रं शिक्षणदं शुभम्।
प्रारब्धं बोधयन् सर्वान् विदुषोऽध्यक्ष आलपत्॥ २॥

टीका—आज संस्कृति सत्र का दूसरा दिन सम्मिलित होने वालों का उत्साह और संतोष देखते बनता था। दूसरे दिन का सत्र शिक्षण आरंभ हुआ। सभी विद्वानों को संबोधित करते हुए सभाध्यक्ष कात्यायन बोले— ॥ १-२॥

कात्यायन उवाच—

धर्मलग्नाः साधका हे भारतोत्पन्नसंस्कृतेः।
विद्यते मेरुदंडस्तु धर्मो वर्णाश्रमानुगः ॥ ३॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चेति चतुर्विधः।
वर्णोऽस्ति संति चत्वार आश्रमाः क्रमशस्त्विमे ॥ ४ ॥
ब्रह्मचर्यं गृहस्थो स वानप्रस्थोऽथ शोभनः।
संन्यासश्चेति सर्वेऽपि परस्परगता इव ॥ ५ ॥
विभाजनमिदं देवसंस्कृतेरनुयायिभिः ।
स्वीकार्यं स महत्त्वं च विचार्यमपि संततम् ॥ ६ ॥
अस्योपयोगितायां तु सगांभीर्यं च गौरवे।
अद्य मुख्यश्च जिज्ञासुरभूदारण्यको मुनिः ॥ ७ ॥
विशेषेण तमेवाथ संबोध्याध्यक्ष उक्तवान्।
कात्यायनो महर्षिस्तु ज्वलन् स ब्रह्मतेजसा ॥ ८ ॥
गुणकर्मस्वभावानामाधारेण विभाजनम्।
वर्णानां भवति प्रायो जन्मना न महत्त्वगम् ॥ ९ ।
कर्मकौशलगं चैतन्मंतव्यः जन्मनैव चेत्।
मन्यते कर्म नैवं चेद् वंध्यवृक्ष इव स्मृतः ॥ १० ॥
महत्त्वेनाभियोज्याश्च सर्वे चत्वार एव तु।
कर्तुं नियोजितामत्र व्यवस्थां तु समाजगम् ॥ ११ ॥
श्रेयः सम्मानमप्येते लभन्तां वर्णसंगताः।
पुरुषा अत्र नो ग्राह्यो भावोऽयमुच्चनीचयोः ॥ १२ ॥

टीका—कात्यायन बोले—हे धर्मपरायण सद्ज्ञान साधको! भारतीय संस्कृति का मेरुदंड वर्णाश्रम धर्म है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह चार वर्ण हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास यह चार आश्रम, जो परस्पर क्रमबद्ध हैं। देव संस्कृति के अनुयायियों को, इस विभाजन को समुचित महत्त्व देना चाहिए और उनकी उपयोगिता,

आवश्यकता एवं गरिमा पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। आज के प्रमुख जिज्ञासु मुनिवर आरण्यक थे, उन्हीं को विशेष रूप से संबोधित कर ब्रह्मतेज से दुर्धर्ष सत्राध्यक्ष कात्यायन ने कहा—वर्णों का विभाजन गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर होता है। यह वर्गीकरण जन्मजात रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन्हें कर्म-कौशल के अनुरूप समझा जाना चाहिए। यदि जन्म से किसी वर्ण में है, पर कर्म तदनुकूल नहीं है तो वह बाँझ वृक्ष के समान है। समाज-व्यवस्था को सुनियोजित रखने के लिए इन चारों को की महत्त्व मिलना चाहिए। इन सभी वर्णों के लोगों को समान-श्रेय सम्मान मिलना चाहिए। इनमें छोटे-बड़े या ऊँच-नीच जैसे भेदभाव नहीं बरतने चाहिए॥ ३-१२॥

आश्रमोऽस्ति विभागः स जीवनक्रमगो ध्रुवम्।
अस्य स्वीकरणाद्व्यक्तिः सुखं याति समुन्नतिम्॥ १३॥
समाजश्चापि नो रुद्धो जायते प्रगतिक्रमः।
सदा सन्तुलनं चात्र तिष्ठत्येव निरंतरम्॥ १४॥
आत्मिक्याः प्रगतेस्तत्र भौतिक्याश्चाप्यपावृतम्।
द्वारं तिष्ठति संभक्ता चतुर्धा जीवनावधिः॥ १५॥
एते चत्वार आख्याता आश्रमा यत्र च क्रमात्।
शक्तिविद्यासु संस्कारोपार्जनं प्रथमं भवेत्॥ १६॥
ब्रह्मचर्य इति ख्यातः संयमो यत्र पूर्णतः।
मात्रं कामपरित्यागं ब्रह्मचर्यं वदंति न॥ १७॥

टीका—आश्रम जीवनक्रम का विभाजन है। इसे अपनाने से व्यक्ति सुखी और समाज समुन्नत रहता है। प्रगतिक्रम रुकने नहीं पाता। संतुलन बना रहता है, भौतिक और आत्मिक प्रगति के दोनों ही द्वार खुले रहते हैं। जीवन अवधि को, चार भागों में विभाजित किया

है। यही चार आश्रम हैं। प्रथम चरण में—बलिष्ठता, विद्या और सुसंस्कारिता का उपार्जन होना चाहिए; यही ब्रह्मचर्य है मात्र कामसेवन न करने को ही ब्रह्मचर्य नहीं कहते॥ १३-१७॥

गृहस्थश्चापरो पादो मात्रमुद्वाह एव न।
गृहस्थः प्रोच्यतेऽप्यत्र संस्था तु परिवारगा॥ १८॥
समर्था सफला चापि क्रियते चेत्तदैव तु।
गृहस्थः प्रोच्यते यत्र वर्गे निर्वाह आदृतः॥ १९॥
स एव परिवारश्च सदस्यास्तत्र दुर्बलाः।
पोष्यास्तु सबला ये च विधातव्यास्तु ते स्वयम्॥ २०॥
स्वावलंबिन एवं च संस्कारपरिसंस्कृताः।
सहकारगताश्चापि, विद्यालय इहोच्यते॥ २१॥
परिवारस्य संस्थाया अस्योद्देश्यतया मता।
समुन्नतिस्तथा चैषा भावना विकसिता भवेत्॥ २२॥
वसुधैव कुटुंबस्य भावनायां निरंतरम्।
समाजरचनायाश्च साऽऽधारत्वेन सम्मता॥ २३॥
पारिवारिकतैवैषा या विकास्या च सर्वतः।
प्रत्येकं मनुजस्तिष्ठेत्सदस्यत्वेन सम्मतः॥ २४॥
विश्वव्यापिकुटुंबस्य स्वं च मन्येत स स्वतः।
संपूर्णस्य समाजस्याविच्छिन्नं चांगमुत्तमम्॥ २५॥

टीका—दूसरा चरण गृहस्थ है। गृहस्थ धर्म के पालन का अर्थ केवल विवाह करना नहीं, परिवार संस्था को समर्थ और सफल बनाना है। जिस समुदाय के बीच निर्वाह चलता है, वह परिवार है। परिवार के असमर्थ सदस्यों का भरण, पोषण और समर्थ सदस्यों को

स्वावलंबी, सुसंस्कारी एवं सहकारी बनाने की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। परिवार को सुसंस्कारिता की पाठशाला माना गया है। उसका उद्देश्य परिवार संस्था को समुन्नत बनाना है। यह पारिवारिकता **'वसुधैव कुटुंबकम्'** की भावना में विकसित होनी चाहिए। समाज सरंचना का आधारभूत उद्देश्य पारिवारिकता ही है। इसे हर क्षेत्र में विकसित होना चाहिए। हर व्यक्ति विश्व परिवार बन कर रहे। अपने को पूरे समाज का एक अविच्छिन्न अंग माने॥ १८-२५॥

यौवने योजना स्याच्च भौतिकोत्पादनस्य सा।
प्रगतेश्चापि स्वस्थाऽस्ति स्वावलंबनसंस्थितेः ॥ २६ ॥
सार्वभौमसमृद्धेश्च समयः शुभ एष तु ।
उपयोगिश्रमासक्तैः समृद्ध्यै भाव्यमेव च ॥ २७ ॥
प्रयासोऽयं गृहस्थस्य धर्मस्यैवांगतां गतः।
जीवनस्यार्धमस्त्येतद् भौतिकेभ्यस्तु निश्चितम्॥ २८ ॥
प्रयोजनेभ्य एवापि स्वार्थपारार्थ्यहेतवे ।
ब्रह्मचर्ये गृहस्थे च परेषामात्मनस्तथा ॥ २९ ॥
शारीरिक्यास्तथा तस्या मानसिक्या अपि त्विह।
सामाजिक्यास्तथाऽऽर्थिक्याः समृद्धिः क्रियतेऽभितः ॥ ३० ॥
निश्चितं शेषमर्धं च परमार्थस्य वृद्धये।
भावनायाश्चरित्रस्य सत्प्रवृत्तेश्च वृद्धये॥ ३१ ॥

टीका—युवावस्था में भौतिक उत्पादन और प्रगति की योजना सामने रहनी चाहिए। अपने स्वावलंबन और सार्वजनिक समृद्धि के संवर्द्धन का ठीक यही समय है। उपयोगी श्रम में संलग्न रहकर व्यापक समृद्धि के लिए प्रयत्नरत होना चाहिए। यह प्रयास गृहस्थ धर्म का ही अंग है। आधा जीवन भौतिक प्रयोजनों के लिए और

स्वार्थ-परमार्थ प्रयोजनों के लिए निर्धारित है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में अपनों तथा अन्यान्यों को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक समृद्धि का सर्वतोन्मुखी संवर्द्धन किया जाता है। शेष आधे जीवन को पारमार्थिक, भावनात्मक, चारित्रिक एवं सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के लिए नियोजित रखा जाता है॥ २६-३१ ॥

देवसंस्कृतिरेतस्मै वानप्रस्थाश्रमस्य च।
संन्यासस्य व्यधात् पूर्णां व्यवस्थां सुदृढामिह॥ ३२ ॥
जनसंपर्कमाकर्तुमन्यान् वा रचनात्मकान्।
कार्यक्रमांश्च जागृत्यै सामर्थ्ये तु शरीरगे॥ ३३ ॥
वानप्रस्थक्रमः सोऽयं निर्वोढुं शक्यते जनैः।
क्षीणायां वपुषः शक्तौ संन्यासी तु कुटीचरः॥ ३४ ॥
एकदेशस्थितो दद्यात् साधनाया अथापि च।
प्रेरणां शिक्षणस्यात्र पुण्यां हितहितां सदा॥ ३५ ॥

टीका—देव संस्कृति ने इसके लिए वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की सुदृढ़ अपने में पूर्ण व्यवस्था बनाई है। जनजागरण के लिए जनसंपर्क एवं रचनात्मक कार्यक्रम संचालन योग्य शारीरिक सामर्थ्य रहते वानप्रस्थक्रम निभाया जाना चाहिए। शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर कुटीचर संन्यासी के रूप में एक स्थान पर रहकर पुण्यदायी, लोकहितैणी-साधना, शिक्षण एवं प्रेरणा-संचार का काम सँभालना चाहिए॥ ३२-३५ ॥

गृहस्थस्य विरक्तस्य वानप्रस्थस्य मध्यगः।
वानप्रस्थसुसंस्कारान् स्वीकुर्वन्निवसेत्क्वचित्॥ ३६ ॥
आरण्यके यथाकालं कर्त्तव्यानि निजानि च।
निर्वोढुमनुगन्त्रीं च शिक्षामासादयेन्नरः ॥ ३७ ॥

साऽधुनाऽपि तथा कार्या कार्यं यच्च महत्त्वगम्।
कर्तुं हस्तगतं तच्च पूर्वमावश्यकं ततः ॥ ३८ ॥
अनुभवं शुभमभ्यासं कुर्यादिदमुच्यते।
वानप्रस्थस्य दीक्षायाः शुभारंभस्वरूपकम् ॥ ३९ ॥
वानप्रस्थाश्च स्वस्यास्य क्षेत्रस्य परिधेर्बहिः।
दूरक्षेत्रेषु गत्वा ते सेवन्ते जनतां सदा ॥ ४० ॥

टीका—गृहस्थ और विरक्त वानप्रस्थ के मध्यांतर में वानप्रस्थ संस्कार संपन्न करते हुए कुछ समय किसी उपयुक्त आरण्यक में रहकर अपने नए कर्त्तव्य-उत्तरदायित्व के निर्वाह में सहायक हो सकने वाली शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए तथा साधना करनी चाहिए। हर महत्त्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेने से पूर्व उसके लिए आवश्यक अनुभव एवं अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। यही वानप्रस्थ की दीक्षा का शुभारंभ स्वरूप है। वानप्रस्थ अपने परिचित क्षेत्र की परिधि से बाहर निकलकर दूर क्षेत्रों में सेवारत रहते हैं॥ ३६-४० ॥

कुर्वते वानप्रस्थास्ते समाजे सर्वदैव तु।
सद्भावस्य ज्ञानस्य वृद्धिमत्र निरंतरम् ॥ ४१ ॥
रचनात्मक-वृत्तीनामपि लोकहितात्मनाम्।
मूढानां मान्यतानां च वारणं तु कुरीतिभिः ॥ ४२ ॥
विद्यते युगधर्मोऽयं शाश्वती च परंपरा।
प्रत्येकस्मिन् युगे ग्राह्या जनैरेषा परंपरा ॥ ४३ ॥

टीका—वानप्रस्थ समाज में निरंतर सद्ज्ञान, सद्भाव एवं लोकोपकारी रचनात्मक सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने तथा कुप्रचलनों, मूढ़मान्यताओं आदि के निवारण का कार्य करते हैं। यह शाश्वत परंपरा भी है और युगधर्म भी। अतः प्रत्येक युग में इस परंपरा का अनुसरण व्यक्तियों को करना चाहिए॥ ४१-४३ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वेव वानप्रस्थो महत्त्वगः ।
लोकमंगलसिद्धिश्च जायते तत्र संभवा॥ ४४॥
अस्मादेवाश्रमाद् योग्यसमर्थनां चमूरिव।
लोकसेविनृणां वर्ग उदेत्यनुभवाऽधिकः ॥ ४५॥
सर्वेषां विदितं चैतल्लोकमंगलकार्मुकः।
उदारहृदयो यश्च मनुजोऽनुभवी भवेत्॥ ४६॥
आत्मकल्याणवद् विश्वकल्याणं कर्तुमुत्सहेत्।
स एव निश्चितं नात्र विचिकित्सा मनागपि॥ ४७॥
धनव्ययो न येषु स्याद् योग्यता-भावना-धिया।
मूर्द्धन्या ये विनिर्मान्ति ते नरा लोकसेविनः॥ ४८॥
देशं समाजमप्यत्र सम्पन्नं शक्तिसंयुतम्।
तेषां यदा भवेदत्र न्यूनता तर्हि वर्धते॥ ४९॥
अविकासस्थितिर्नूनं सर्वत्रैव महीतले।
विश्वव्यवस्थितौ येषां दायित्वं विद्यते नृणाम्॥ ५०॥
पुरोधसां न शालीन्यन्यूनता स्याद् भुवीति तत्।
वानप्रस्थे समुत्पन्नं परिपक्वं च जायते॥ ५१॥

टीका—चारों आश्रमों में वानप्रस्थ सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसी से लोक-मंगल की साधना बन पड़ती है। लोकसेवियों की सुयोग्य और समर्थ सेना इसी आश्रम के भांडागार से निकलती है। सर्वविदित है कि अनुभवी उदारचेता और लोक-मंगल की भावनाओं से ओत-प्रोत व्यक्ति ही आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा कर पाते हैं, इसमें संदेह नहीं। जिन पर धन न खरच करना पड़े, जो योग्यता और भावना की दृष्टि से मूर्द्धन्य हों, ऐसे

लोकसेवी ही किसी देश या समाज को समर्थ-संपन्न बना पाते हैं। उनकी कमी पड़ने से सर्वत्र पिछड़ापन बढ़ता है। विश्व व्यवस्था में शालीनता की मात्रा कम न होने देने की जिम्मेदारी जिस पुरोहित वर्ग की है, वह वानप्रस्थ आश्रम में ही प्रकट और परिपक्व होता है॥ ४४-५१ ॥

उपासना च सर्वत्राऽनिवार्या साश्रमेषु तु।
आश्रमेषु चतुर्ष्वेव स्थानं तस्याः कृते ध्रुवम्॥ ५२ ॥
महत्त्वपूर्णं स्यादेव युगेऽस्मिन् सुलभा तथा।
उपयुक्ताऽस्ति च प्रज्ञायोगस्यैषा तु साधना॥ ५३ ॥
केवलेन न कार्यं तूपासनाविधिना भवेत्।
स्वाध्यायसाधनासेवासंयमानां चतुर्विधा ॥ ५४ ॥
कार्यपद्धतिरुक्ता या तदा विश्वस्य चात्मनः।
कल्याणरूपं यल्लक्ष्यं द्विष्ठं तत्पूर्णतां व्रजेत्॥ ५५ ॥

टीका—उपासना हर क्षेत्र में आवश्यक है। उसे चारों आश्रमों में समान स्थान और महत्त्व मिलना चाहिए। इसके लिए वर्तमान युग में प्रज्ञा योग की साधना सर्वसुलभ और सभी आश्रमों के लिए उपयुक्त है। उपासना अकेली से काम नहीं चलता। साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा की चतुर्विध कार्यपद्धति अपनाने से ही आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का उभयपक्षीय जीवन लक्ष्य पूरा होता है॥ ५२-५५ ॥

आश्रमा इव वर्णास्ते चत्वारः संति शोभनाः।
क्षत्रियाश्च विशः शूद्रा समाजे कुर्वते क्रमात्॥ ५६ ॥
सुरक्षायाः समृद्धेश्च श्रमस्यापूर्तिमुत्तमाम्।
ब्राह्मणस्य च दायित्वमध्यात्मप्रमुखं स्मृतम्॥ ५७ ॥

समाजोत्कर्षकार्ये च चतुर्णामपि वर्त्तते।
महत्त्वपूर्णमेतेषां योगदानं च वस्तुतः ॥५८॥
उच्चोनीचश्च नैवात्र वर्तते कोऽपि मानवः।
समाजावयवाः सर्वे वर्णाः स्वस्था अपेक्षिताः॥ ५९॥
जन्मना जायते शूद्रो मान्यता देवसंस्कृतेः।
इयमेवास्ति संस्कारैर्द्विजाः पश्चाद् भवंति ते॥ ६०॥
सामान्यतस्तु वर्णास्ते कर्त्तव्यानि स्वकानि च।
निर्वहंति परं कश्चित् समाजस्य परिस्थितेः॥ ६१॥
पूर्णं सन्तुलनं कर्तुं विवेकेन युतं स्वतः।
क्षमतां वर्द्धयित्वाऽन्यदायित्वं वोढुमर्हति ॥ ६२॥
चतुर्ष्वपि यदाप्येको पतनैर्हि तदैव तु।
समाजस्य स्थितिर्याति विकृतिं हि शनैः शनैः॥ ६३॥
सावधानैः सदाभाव्यं ब्राह्मणैर्विषयेऽत्र तु।
पतिते तु यतस्तस्मिन् पतन्त्यन्येऽपि वर्गगाः॥ ६४॥

टीका—आश्रमों की तरह वर्ण भी चार हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज में क्रमशः सुरक्षा, समृद्धि और श्रम की महत्त्वपूर्ण भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। ब्राह्मण का उत्तरदायित्व अध्यात्म प्रधान है। वस्तुतः समाजोत्कर्ष में चारों का योगदान महत्त्वपूर्ण हैं। किसी को छोटा-बड़ा या ऊँचा-नीचा नहीं कहा जा सकता। समाजरूपी शरीर के सभी अंग सभी वर्ण स्वस्थ होने चाहिए। देव संस्कृति की मान्यता है कि जन्म से सभी शूद्र हैं, संस्कारों के द्वारा द्विज बनते हैं। सामान्य रूप से सभी वर्ण अपने निर्धारित कर्त्तव्य सँभालते हैं, किंतु समाज तथा परिस्थितियों के बिवेकपूर्ण संतुलन के लिए कोई भी व्यक्ति वर्ण विशेष की क्षमताएँ अपने अंदर विकसित करके उनके

उत्तरदायित्वों को सँभाल सकता है। चारों में से किसी एक वर्ग का पतन होने से समाज का संतुलन बिगड़ने लगता है। ब्राह्मण वर्ग को इस दिशा में सबसे अधिक सतर्क रहना होता है। उसका पतन होने से अन्य वर्गों का भी पतन होने लगता है॥ ५६-६४॥

तुलना ब्राह्मणस्यातो मुखेनोक्ता धियाऽपि च।
चिन्तनं स ददात्येवं शिक्षाया वहते धुरम्॥ ६५॥
प्रवचनस्य चोद्घोषस्यापि दांतो महात्मनः।
जीवनं ब्राह्मणस्य स्यादपरिग्रहिसात्त्विकम्॥ ६६॥
सौम्यं विगततृष्णं च सद्गुणैरभिशोभितम्।
सेवापरायणं चापि सदाचारयुतं सदा॥ ६७॥

टीका—ब्राह्मण की तुलना मस्तिष्क एवं मुख से की गई है, वह उदार हृदय चिंतन प्रदान करता है और उद्घोष, प्रवचन, प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व भी स्वयं अनुशासित बन सँभालता है। ब्राह्मण का निजी जीवन अपरिग्रही एषणाओं से रहित, सौम्य, सात्त्विक, सद्गुणी, सेवा परायण एवं सदाचारयुक्त होना चाहिए॥ ६५-६७॥

कस्मिन्नपि कुले जन्मग्रहणादेव नैव तु।
कश्चिद् भवति विप्रोऽत्र लोकोद्धारक उत्तमः॥ ६८॥
तदर्थं च सदाचारसिद्धतोक्ता भवन्त्यपि।
वानप्रस्थादिगा विप्रा ब्रह्मकर्मयुता यदि॥ ६९॥

टीका—मनुष्य किसी कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से ही ब्राह्मण नहीं बनता। उसके लिए आचरण सिद्ध भी होना पड़ता है। ब्रह्मकर्मरत वानप्रस्थ एवं संन्यासी भी ब्राह्मण संज्ञा में आते हैं॥ ६८-६९॥

उदरपूर्तिनिमित्तं हि शिक्षा चार्थकरी तु या।
विद्यार्थिनस्तदर्थं तु धावंतो ह्यभिभावकाः॥ ७०॥

व्यवस्थां कुर्वते यत्राऽध्यापका वेतनाश्रिताः।
प्राप्यंते बोधकर्तारः श्रमिका इव सर्वतः॥ ७१॥
अभावस्तु भवेत्तेषां प्राप्नुवंति स्वयं तु ये।
गुणकर्मस्वभावानां स्वानामादर्शमुत्तमम् ॥ ७२॥
स्याद् विवेकोदयो येन जनसाधारणस्य तु।
शिक्षयेयुरुदात्तं च चरित्रं परमार्थताम् ॥ ७३॥
सर्वेषां वशगं नैतत्कर्म लोके तु संभवेत्।
विप्राणां प्राय एतत्तु, पौरोहित्ये च ते स्वयम्॥ ७४॥
जनसामान्यनेतृत्वं कुर्वते भावनात्मकम्।
धर्मधृत्यै तथैतस्यै मात्रमुद्बोधनं नहि ॥ ७५॥
पर्याप्तं परमभ्यासकारणाद्रचनात्मकम्।
आन्दोलनं च संस्कारकारकं बह्वपेक्ष्यते ॥ ७६॥
एकत्रीकृत्य चासंख्याँस्तत्र लोकाँश्च कर्मणि।
कृत्वा परिणतं ज्ञानं विधेयं तत् स्वभावगम्॥ ७७॥

टीका—उदरपूर्ति के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी और अभिभावक स्वयं ही दौड़-धूप करते रहते हैं। उसके लिए जानकारी भर बढ़ाने वाले वेतनभोगी अध्यापक भी अन्यान्य श्रमिकों की तरह हर जगह मिल जाते हैं। अभाव उनका रहता है, जो अपने गुण-कर्म-स्वभाव का आदर्श प्रस्तुत करके जनसाधारण का विवेक जगा सकें, उदात्त आचरण एवं परमार्थपरायणता सिखा सकें। यह काम कर सकना हर किसी के वश का नहीं है। प्रायः ब्राह्मण का ही है। उन्हीं को पुरोहित के रूप में जनसाधारण का नेतृत्व करना पड़ता है। इस धर्मधारणा के लिए मात्र शिक्षण, उद्बोधन ही पर्याप्त नहीं होता, वरन अभ्यास के लिए अनेक रचनात्मक एवं सुधारात्मक

आंदोलन खड़े करने होते हैं और उनमें असंख्यों को जुटाकर ज्ञान को कर्म में परिणत करते हुए स्वभाव-संस्कार के स्तर तक पहुँचाना होता है ॥ ७०-७७ ॥

बहूनि संति कर्मांणि यान्याश्रित्य च युज्यते।
शिक्षितुं लोकसेवैषा जगन्मंगलकारिणी ॥ ७८ ॥
सत्प्रवृत्तीर्विधातुं ताः शुभा अथाग्रगामिनीः।
यथा व्यायामशालास्ताः पाठशालाः कला अपि ॥ ७९ ॥
पुस्तकालय-उद्योगाः कौशलश्रमशालिता।
हरितक्रांतिरत्रैषा स्वच्छता धेनुपालनम् ॥ ८० ॥
स्वास्थ्यवृद्धिः समारोहास्तथासंगठनादिकम्।
कुरीतिवारणं बालकल्याणं जनजागृतिः ॥ ८१ ॥
महिलामंगलादीनि रचनात्मकरूपतः।
संति ख्यातानि यान्यत्रोद्भाव्यान्यन्यान्यपि स्वयम् ॥ ८२ ॥
सर्वाण्येतानि कर्तुं च गतिशीलानि संततम्।
अग्रगामीनि चायांतु व्यवस्थापयितुं समे ॥ ८३ ॥
लोकसेवारता येन वातावरणमुज्ज्वलम्।
सोत्साहं निर्मितं च स्याल्लोको मंगलमाव्रजेत् ॥ ८४ ॥
एष ब्राह्मणवर्गश्च स्वाध्यायोपासनास्विव।
सत्संगेष्विव चैतासु क्रियासु स्याद्रतः सदा ॥ ८५ ॥
सत्प्रवृत्यभिवृद्धिश्च संभवेदत्र येन च।
प्रत्येकस्मिंस्तथा क्षेत्रे वर्धमानाश्च याः समाः ॥ ८६ ॥

टीका—पाठशाला, पुस्तकालय, व्यायामशाला, कला-कौशल, गृहउद्योग, सामूहिक-श्रमदान, हरीतिमा-संवर्द्धन, गौपालन, स्वच्छता-

प्रयास, संगठन, समारोह, स्वास्थ्य-संवर्द्धन, कुरीति निवारण, शिशु-कल्याण, महिला-मंगल जैसे अनेकों छोटे-बड़े रचनात्मक कार्य ऐसे हो सकते हैं, जिसके सहारे लोग सार्वजनिक सेवा सीखें और जनमंगल की सत्प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाएँ, इन्हें गतिशील अग्रगामी बनाने एवं व्यवस्था जुटाने में लोकसेवियों को ही आगे रहना पड़ता है। ब्राह्मण वर्ग को भावना, उपासना, स्वाध्याय, सत्संग की तरह ही एक रचनात्मक क्रिया-कलापों द्वारा सत्प्रवृत्ति -संवर्द्धन में भी निरत होना पड़ता है ॥ ७८-८६ ॥

अवांछनीयतास्ताश्च कर्तुमुन्मूलिताः स्वयम्।
सशक्ताक्रोशसंघर्ष-विरोधानामपि स्थितिम्॥ ८७ ॥
उत्थितां कर्तुमर्हास्ते शास्त्रमेककरे तथा।
शस्त्रं तिष्ठति विप्राणां करे येषां द्वितीयके ॥ ८८ ॥

टीका—हर क्षेत्र में पनपने वाली अवांछनीयताओं का उन्मूलन कर सकने वाला आक्रोश, विरोध एवं संघर्ष खड़ा करना भी उन्हीं का काम है। ब्राह्मण के एक हाथ में शास्त्र और दूसरे में शस्त्र रहता है ॥ ८७-८८ ॥

भ्रमंति नररूपेण पशवो बहवो भुवि।
मनुष्योचितकर्त्तव्यादर्शयुक्ता भवंतु ते ॥ ८९ ॥
इत्येव वर्तते मुख्यं लक्ष्यं वै देवसंस्कृतेः।
स्वस्थाश्रमव्यवस्थाऽथ परिष्कृतसुरालयाः ॥ ९० ॥
तीर्थान्यपि भवन्त्यत्र लक्ष्यस्यास्यैव पूर्तये।
माध्यमैरेभिरेवेयं विश्वं व्याप्नोच्च संस्कृतिः ॥ ९१ ॥
इमान् परिष्कृतान् पूर्णजीवितान् कर्तुमत्र च।
संततमृषिवर्गस्य कार्यमस्ति महत्तरम् ॥ ९२ ॥

इदं ज्ञातव्यमस्माभिः पूर्णरूपेण चांततः।
व्यवस्थित-समाजं च कर्तुं मार्गोऽयमस्ति वै॥ ९३॥

टीका—मनुष्य रूप में पशु तो बहुत फिरा करते हैं। उन्हें मनुष्योचित कर्त्तव्यों, आदर्शों से युक्त रखना देव संस्कृति का प्रधान उद्देश्य है। स्वस्थ वर्णाश्रम व्यवस्था, परिष्कृत देवालय एवं तीर्थ तंत्र इसी उद्देश्यपूर्ति के लिए होते हैं। इन्हीं माध्यमों से देव संस्कृति विश्वव्यापी बनी थी। इन्हें जाग्रत और परिष्कृत रखने का कार्य ऋषितंत्र का ही है और यह हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि अंततः समाज को व्यवस्थित करने के लिए यही मार्ग है॥ ८९-९३॥

सत्रं सांस्कृतिकं चैतत् द्वितीयमेव पूर्ववत्।
सोल्लासं पूर्णतां यातं सानंदमाश्रमे शुभे॥ ९४॥
घोषणायाः समाप्तेश्च श्रोतारः सर्व एव ते।
परस्परं नमंतश्च यथाकालं यथाऽऽगतम्॥ ९५॥
नित्यकृत्यानि कर्त्तुं तु गता उत्साह संयुताः।
दृढसाहससंकल्पा विधि-कालानुयायिनिः॥ ९६॥

टीका—दूसरे दिन का संस्कृति सत्र प्रथम दिन की भाँति बड़े आनंद-उल्लास के वातावरण में समाप्त हुआ। समापन की घोषणा होने पर सभी नमन-वंदन पूर्वक अपने नियत कृत्यों को यथासमय यथावत् करने के लिए चले गए। उनका उत्साह बढ़ा हुआ था। साहस एवं संकल्प में दृढ़ता प्रतीत होती थी। वे समय का मूल्य एवं उचित प्रतिक्रियाओं के महत्त्व को समझ चुके थे॥ ९४-९६॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते 'वर्णाश्रम धर्म' इति प्रकरणो नाम
॥ द्वितीयोऽध्यायः॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

संस्कार पर्व-माहात्म्य प्रकरण

प्रतिपाद्यं तृतीयस्य श्रोतुमुत्का दिनस्य ते।
सोत्सुकं नियते काले प्राप्ताः सर्वे यथाक्रमम्॥ १ ॥
स्थानेषु नियतेष्वेव समासीनास्तथाऽभवन्।
वर्षयन्निव पीयूषमृषिः कात्यायनस्तदा ॥ २ ॥

टीका—तीसरे दिन के प्रवचन प्रतिपादन सुनने के लिए सभी आतुर थे, सो नियत समय पर सभी जिज्ञासु उत्सुकतापूर्वक पहुँचे और अपने नियत स्थान पर यथाक्रम आसीन हो गए। ज्ञानामृत बरसाते हुए महर्षि कात्यायन बोले— ॥ १-२ ॥

कात्यायन उवाच—

जिज्ञासवो नरस्त्वेष वर्तते पशुरप्यथ।
पिशाचोऽपि तथा देवो महामानव एव च॥ ३ ॥
सीम्निप्रजननस्याथ चोदरस्यापि ये नराः।
मग्नाश्चिंतातुराश्चापि नरास्ते पशवा मताः॥ ४ ॥
तेषां सर्वस्वमस्त्येषा लघ्वी स्वार्थरतिः सदा।
लोभमोहातिरिक्तं न पश्यन्त्येते किमप्यतः॥ ५ ॥
प्रदर्शने विलासे च सुखं तेऽनुभवंति हि ।
नाभ्यां परं किमप्येषां लक्ष्यं भवति दूरगम्॥ ६ ॥

टीका—कात्यायन बोले—जिज्ञासुओ! मनुष्य पशु भी है, पिशाच भी, मान्य मानव भी और देवता भी। पेट और प्रजनन की छोटी परिधि में सोचने और करने में निमग्न रहने वाले नर-पशु हैं। उनके लिए संकीर्ण-स्वार्थपरता ही सब कुछ है। लोभ और मोह के अतिरिक्त

और कुछ उन्हें सूझता ही नहीं। विलास और प्रदर्शन में ही उन्हें सुख मिलता है। इसके आगे इनका कोई और दूरगामी लक्ष्य नहीं॥ ३-६ ॥

दर्पो नरपिशाचेषु सदा छत्रायते ततः।
अनाचारेषु पश्यंति दुष्कृत्येषु तथैव च॥ ७॥
आतंकेषु च ते पूर्तिमहंकारस्य स्वस्य तु।
अनुभवंति रसं दिव्यं परेषां पीडने शठाः॥ ८॥
मर्यादोल्लंघने शौर्यं पश्यंत्यपि पराक्रमम्।
पिशाचा एव ये भ्रष्टचिंतनाचारवर्जिताः॥ ९॥

टीका—नर-पिशाचों पर दर्प छाया रहता है। वे आतंक, अनाचार और दुष्कृत्यों में अपने अहंकार की पूर्ति देखते हैं। उत्पीड़न में उन्हें रस आता है। मर्यादा भंग करने में उन्हें शौर्य-पराक्रम प्रतीत होता है। भ्रष्ट चिंतन और दुष्टाचार वालों को मनुष्य शरीर में पिशाच ही समझना चाहिए॥ ७-९ ॥

पालयंति नरा धर्मं कर्त्तव्यं स्वं च सर्वदा।
पोषयंति सदा शीलं नीतिमर्यादयोरपि ॥ १०॥
अनुभवंति महत्त्वं ते सहकारं श्रयंति च।
सद्भावमधिकारे ते नोत्काः कर्त्तव्यबुद्धयः॥ ११॥
व्यवहरंति तथाऽन्यैस्ते यथा स्वस्मै प्रियो भवति।
व्यवहार, स्तरं तं ते निर्वाहस्याश्रयंति तु॥ १२॥
उपलब्धो यथाऽन्यैस्तु ते विदंति भविष्यति।
ईर्ष्या प्रदर्शनैरत्र विलासैः संग्रहैरपि ॥ १३॥
उत्पद्यंते विग्रहाश्च सुखशांतिविनाशकाः ।
गृध्नवो वैभवं प्राप्तुमर्पयंति हि जीवनम्॥ १४॥

मानवस्य गरिम्णस्तु येषां बोधोऽस्ति ते नराः।
उत्कृष्ट चिंतने लग्नाः कर्तृत्वेऽप्युत्तमे सदा ॥ १५ ॥

टीका—मनुष्य अपने कर्त्तव्य धर्म का पालन करते हैं। शील पालते और नीति-मर्यादा का महत्त्व समझते हैं। सद्भाव और सहकार का आचरण करते हैं। अधिकार पर कम और कर्त्तव्य पर अधिक ध्यान देते हैं। दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करते हैं, जैसा अपने लिए प्रिय है। उसी स्तर का निर्वाह अपनाते हैं, जैसा कि अधिकांश लोगों को उपलब्ध है। वे जानते हैं कि संग्रह, विलास और प्रदर्शन से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और विग्रह पनपते हैं। लालची, वैभव संपादन पर ही बहुमूल्य जीवन निछावर कर देते हैं, पर जिन्हें मानवी गरिमा का बोध है, वे उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व में निरत रहते हैं॥ १०-१५ ॥

विशेषताभिरेताभिर्युक्ता एव तु मानवाः।
वक्तुं शक्या वसन्त्यत्र मर्त्य देहे हि देवताः॥ १६ ॥
भगवानत्र प्राकट्यं याति देहे सदैव सः।
मनुकार्येषु ये लग्ना अभिनंद्येषु संततम्॥ १७ ॥
उपक्रमेषु पुण्योपकारयो रसबोधिनः।
आत्मनो जगतश्चाऽपि कल्याणार्थं तपो रताः॥ १८ ॥
कष्टानां सहने हर्षो येषां ते भूसुरा मताः।
उदारमानसा मर्त्याः करुणामूर्तयोऽनघा ॥ १९ ॥
ऋषिर्मनीषी देवात्माऽवतारो वा निगद्यते।
महामानव इत्येष समुदायो जनैरिह॥ २० ॥

टीका—ऐसी विशेषता से युक्त लोगों को ही सच्चा मनुष्य कहना चाहिए। मनुष्य शरीर में ही देवता रहते हैं। इसी में भगवान प्रकट होते हैं। जो अनुकरणीय, अभिनंदनीय बनाने वाले उपक्रमों में

निरत रहते हैं, जिन्हें पुण्य–परोपकार में रस आता है और आत्मकल्याण एवं विश्वकल्याण के लिए तपश्चर्यारत रहने, कष्ट सहने में प्रसन्नता होती है। ऐसे दयालु, निष्पाप, उदारमना लोगों को भूसुर को धरती का देवता कहते हैं। इसी समुदाय को महामानव ऋषि, मनीषी, देवात्मा एवं अवतार कहते हैं॥ १६–२०॥

भवंति मानवाः प्रायः समाना एव यद्यपि।
वातावृत्या च संगत्या गच्छन्त्युच्चैः पतन्त्यधः॥ २१॥

टीका—मनुष्य प्रायः सभी एक जैसे होते हैं। वातावरण एवं संगति के प्रभाव से वे ऊँचे उठते या पतित होते हैं॥ २१॥

विद्यैवैषा मनुष्यस्य संस्कारित्वं स गौरवम्।
विदधाति तदाधारात् समाजो व्यक्तिरेव च॥ २२॥
श्रेयः सौभाग्ययोगं च प्राप्नुतो मानवेप्सितम्।
अतः श्रेष्ठं धनं विद्या सौभाग्यं चाऽपि कीर्तिता॥ २३॥

टीका—विद्या ही मनुष्य की सुसंस्कारिता को गरिमा प्रदान करती है और उसी आधार पर व्यक्ति तथा समाज को श्रेय सौभाग्य का सुयोग प्राप्त होता है, जो मानवमात्र का लक्ष्य है। अतः निश्चित रूप से विद्या एक श्रेष्ठ धन है व मानवमात्र का सौभाग्य स्वरूप है॥ २२–२३॥

विज्ञा एनां विश्वस्याऽनिवार्यत्वं महत्तथा।
आधारां प्रगतेः सार्वभौमाया देवसंस्कृतेः॥ २४॥
मन्वाना जगदुर्विद्यावृद्ध्यैः प्राणपणैरपि।
यतितव्यं महत्पुण्यमिदं वै पारमार्थिकम्॥ २५॥
धर्मकार्ये पुनीतेऽस्मिन् रतांस्तांस्तु गुरून्बुधाः।
वदंति गणयन्त्यत्र धरित्र्या देवरूपिणः॥ २६॥

टीका—विज्ञजन इसे संसार की महती आवश्यकता, देव परंपरा और सर्वतोमुखी प्रगति का आधार मानते हैं। जगत में विद्या-संवर्द्धन के लिए प्राणपण से लग जाना सबसे बड़ा पुण्य-परमार्थ है। इस पुनीत धर्मकार्य में निरत लोगों को गुरुजन कहा जाता है। और धरती के देवताओं में गिना जाता है॥ २४-२६॥

विद्याधनः पुलस्त्यः स पप्रच्छ मुनिपुंगवः।
कात्यायनं महर्षि तं लोकमंगलकाम्यया॥ २७॥

पुलस्त्य उवाच—

बोध्यतां स उपायो नो देव! विद्यालये तु यः।
अतिरिक्ततयाऽधीतेर्विद्यालाभाय युज्यते॥ २८॥
उच्चां शिक्षां समासाद्य केवलं नैतिकोऽपि तु।
नरः श्रद्धास्पदं स्थानं श्रेयसामधिकारिताम्॥ २९॥
उपायास्ते विबोध्या नो यैः स्युः सर्वा हि व्यक्तयः।
नृपशुत्वपिशाचत्वप्राप्तेर्वै रक्षिताः स्वयम्॥ ३०॥
नरनारायणत्वं वा नरत्वं प्रापितुं भवेत्।
संभवं येन सिद्धयेच्च जीवो ब्रह्मैव नापरः॥ ३१॥

टीका—लोक-मंगल की कामना से विद्या के धनी ऋषिवर पुलस्त्य ने महर्षि कात्यायन से पूछा—हे देव! वह उपाय बताइए, जिन्हें पाठशाला में अध्यापन कृत्य के अतिरिक्त भी विद्या लाभ करने के लिए प्रयोग में लाना पड़ता है। मात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने भर से ही किसी को श्रद्धास्पद श्रेयाधिकारी बनने का अवसर नहीं मिलता, अतः कृपया उन प्रयोगों को बताएँ, जिनके माध्यम से व्यक्ति को नर-पशु और नर-पिशाच बनने से रोका जा सके, नर-मानव और नर-नारायण के स्तर तक पहुँचाया जा सके,

जिससे 'जीव ब्रह्म है,' यह सिद्धांत व्यावहारिक रूप से सिद्ध हो जाए॥ २७-३१ ॥

कात्यायन उवाच—

दैवे तु समुदायेऽयं मनुष्योऽनेकशस्त्विह।
सुसंस्कारयुतो नूनं क्रियते वृद्धिकाम्यया॥ ३२ ॥
ताप्यते मानवो मध्ये प्रयोगाणां स ईदृशाम्।
अत्र षोडश वारं तु नश्येयुर्येन सञ्चिताः॥ ३३ ॥
संस्कारा दूषिता दैववैशिष्ट्यस्यांकुराश्च ते।
उत्पद्येरन् मनुष्योऽयं देवत्वं यातु येन च॥ ३४॥
संस्काराणां तथा धर्मानुष्ठानानां च विद्यते।
उपचारविधिः सर्वमान्यो लोके महत्त्ववान्॥ ३५ ॥

टीका—कात्यायन बोले—हे विद्वत्श्रेष्ठ! देव समुदाय में मनुष्य को बार-बार सुसंस्कारित किया जाता है। हर व्यक्ति को सोलह बार ऐसे प्रयोगों के मध्य तपाया जाता है, जिनसे उनके संचित कुसंस्कार नष्ट हो सकें और दैवी विशेषताओं के अंकुर उग सकें, जिससे मनुष्य देवता बन सके। इसके लिए संस्कार धर्मानुष्ठानों के उपचार की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया सर्वविदित है॥ ३२-३५ ॥

तत्र पुंसवनं नामकरणमन्नप्राशनम् ।
मुण्डनं चाऽपि दीक्षा च विद्याऽभ्यासस्तथैव च॥ ३६ ॥
यज्ञोपवीतसंस्कारः पाणिग्रहणमेव च।
वानप्रस्थो विवाहस्य जन्मनश्च दिनोत्सवौ॥ ३७॥
ससमारंभमेते चेत्संस्कारा विहितास्ततः।
व्यक्तिभ्यः परिवाराय समाजायापि प्रेरणा॥ ३८ ॥

सुसंस्कारसमृद्ध्यर्थं मिलत्येव शुभावहा।
क्रमेणाऽनेन भाव्यं च यथावंशपरंपराम् ॥ ३९ ॥
व्यवस्था कर्मकांडस्य विधेर्मन्त्रविधेस्तथा।
एवं स्याच्च यथा तत्र स्याद्धि वातावृतौ शुभः ॥ ४० ॥
संचारः प्रेरणायास्तु सर्वमेतच्च मन्यते।
तां चोपचरितुं युक्तं भावनायाः प्रगल्भताम् ॥ ४१ ॥

टीका—पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, मुंडन, विद्यारंभ, दीक्षा, उपनयन, विवाह, वानप्रस्थ, जन्म दिवसोत्सव, विवाह दिवसोत्सव आदि संस्कारों को समारोह पूर्वक करने से व्यक्ति परिवार तथा समाज को सुसंस्कारिता संवर्द्धन की शिक्षा- प्रेरणा मिलती है, यह क्रम वंश परंपरा के साथ सदा चलना चाहिए। इन कृत्यों के कर्मकांड की विधि-व्यवस्था एवं मंत्र-प्रक्रिया ऐसी हो, जो उपस्थित वातावरण में उपयोगी प्रेरणा का संचार करे। उन्हें भावना-क्षेत्र की प्रगल्भता के लिए समर्थ उपचार माना गया है ॥ ३६-४१ ॥

व्यक्तिं कर्तुं सुसंस्कारयुतां ते षोडशाऽपि च।
दश वा विहिता विज्ञैरुपचारास्तथैव तु ॥ ४२ ॥
भावनां तु समाजस्था समूहाश्रयिणीमपि।
शालीनताऽनुकूलां च कर्तुं पर्वादि मन्यताम् ॥ ४३ ॥
प्रशिक्षणस्य चैतेषु मिलनार्चनयोरपि।
ईशस्य विधेरस्ति समावेशो यमाश्रयन् ॥ ४४ ॥
लोकमानससंस्थास्ताः शक्या कर्तुं परंपराः।
बहूनि संति पर्वाणि दशमुख्यानि तेषु तु ॥ ४५ ॥

टीका—जिस प्रकार व्यक्ति को सुसंस्कारी बनाने के लिए षोडश अथवा दश उपचारों का विधान है, उसी प्रकार समाजगत सामूहिकता

को शालीनता का पक्षधर बनाने के लिए पर्व आयोजनों का महत्त्व है। इनमें मिलन, पूजन, प्रशिक्षण की ऐसी विधि-व्यवस्था का समावेश है, जिनके सहारे सत्परंपराओं को लोक-मानस में प्रतिष्ठित कराया जा सके। पर्व बहुत हैं, परंतु उनमें दस प्रमुख हैं॥ ४२-४५॥

वसंतपंचमी दिव्या शिवरात्रिश्च होलिका।
सा रामनवमी पुण्या गायत्रीजयघोषिणी ॥ ४६ ॥
गुरुपूर्वापौर्णमासी श्रावणी च तथैव सा।
कृष्णजन्माष्टमी मान्या विजयादशमी तथा ॥ ४७ ॥
दीपावलीति सर्वेषु दशानामेव मुख्यतः।
महत्त्वं वर्तते तेन सोत्साहं पर्व मन्यताम् ॥ ४८ ॥
भावनापूर्वकं यत्र मानितानि समान्यपि।
इमानि तत्र संस्कार भावनोदेति चान्ततः ॥ ४९ ॥
सत्प्रवृत्युदयश्चापि जायते मानवेषु सः।
प्रतिव्यक्ति समाजं च यस्यापेक्षा मता बुधैः ॥ ५० ॥

टीका—वसंत पंचमी, शिवरात्रि, होली, रामनवमी, गायत्री जयंती, गुरुपूर्णिमा, श्रावणी, जन्माष्टमी, विजयादशमी, दीपावली इन दस का विशेष महत्त्व है, अतः पर्वों को सोत्साह मनाना चाहिए। इन्हें जहाँ भावनापूर्वक मनाया जाता रहता है, वहाँ सुसंस्कारिता की उमंगें उठती रहती हैं और सत्प्रवृत्तियाँ पनपती रहती हैं, जिसकी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति व समाज के लिए अनिवार्यतः होती है॥ ४६-५०॥

उच्चस्तरा लोकशिक्षा समारोहसुयोजनैः।
जायते च प्रभावेण ह्येतेषां बहवस्त्विह ॥ ५१ ॥
फुल्लंति कुसुमानीव येऽविकासस्थिता नराः।
कथानां च पुराणानां महत्त्वं घटते ततः ॥ ५२ ॥

टीका—समारोह आयोजनों के माध्यम से उच्चस्तरीय लोक-शिक्षण होता रहता है तो उस ऊर्जा के प्रभाव से प्रभावित अनेकों अविकसित कलियों को भी पुष्पवत् खिलने का अवसर मिलता रहता है। कथा-पुराणों का उस दृष्टि से बहुत महत्त्व है॥ ५१-५२ ॥

कीर्तनायोजनान्यत्र संगीतप्रमुखानि हि।
भवंति तस्य लोकस्य रञ्जनेन सहैव तु॥ ५३ ॥
लाभः समन्वितो लोकमंगलस्यैष प्राप्यते।
धर्मप्रचारकेष्वत्र देवेषु च महर्षिषु ॥ ५४ ॥
अधिकैः कीर्तनस्यैषा संगीतस्यापि चाश्रिता।
विधा प्रभाविनी लोकशिक्षणे सरला च या॥ ५५ ॥

टीका—कीतर्न-आयोजन संगीत प्रधान होते हैं और उनमें लोकरंजन के साथ लोक-मंगल का समन्वित लाभ मिलता है। देवताओं, ऋषियों और धर्मप्रचारकों में से अधिकांश ने संगीत, कीर्तन की विधा को अपनाया और कथा-पुराण शैली का आश्रय लिया। लोक-शिक्षण की दृष्टि से यह सरल और प्रभावी माध्यम है॥ ५३-५५ ॥

नीतिधर्मसदाचाराद्युपयोगित्वमत्र तत्।
कथाऽऽख्यानादिभिर्नूनं जायते तु गृहे गृहे॥ ५६ ॥
उपायाः सर्व एवैते युज्यंते लोकशिक्षणे।
सार्वभौमे ततो ज्ञेयान्येतान्यत्र समान्यपि॥ ५७ ॥

टीका—घरों में कथा-कहानियों के द्वारा नीति, धर्म, सदाचार की उपयोगिता हर घर-परिवार में प्रकट होती रहती है। अस्तु, उपायों को भी सार्वजनीन लोक-शिक्षण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है॥ ५६-५७ ॥

भौतिकानां तथा राजनैतिकानां पुरा युगे।
आर्थिकानामपि क्षेत्रे समस्यास्तास्तु या मताः॥ ५८ ॥

समाधानाय तासां च ज्ञापितुं ताः समा अपि।
राजसूयादियज्ञानां व्यवस्था महतामभूत् ॥५९॥

टीका—पुरातनकाल में भौतिक, राजनीतिक, आर्थिक-क्षेत्र की समस्याओं के समाधान खोजने-बताने के लिए विशालकाय राजसूय यज्ञों के आयोजन होते थे॥ ५८--५९ ॥

विपन्नतास्तु धार्मिक्यः सामाजिक्योऽपि ताः समाः।
अभूत्कर्तुं निरस्ताश्च वाजपेयेष्टियोजना॥६०॥
अतिरिक्तं चाग्निहोत्राज्ज्ञानयज्ञप्रधानता ।
अभूत्तासु नरा एकविचाराः संगता यदा॥६१॥
एकप्रकृतयश्चैकलक्ष्यपूर्त्यै ततो ध्रुवम्।
तच्चिन्तनं परिप्रेक्षानिर्धृतिंमृगयन्ति तु ॥६२॥
विधिं मानवकल्याणकारिणं फलतो भवेत्।
प्रगतेः सार्वभौमाया द्वारं भव्यमनावृतम् ॥६३॥
निवृत्तेः संकटानां च प्रशस्तोऽध्वा च जायते।
विभिन्नेषु च तीर्थेषु तथा पर्वसु चेदृशाम् ॥६४॥
यज्ञानां करणस्येयमृषिभिस्तु परंपरा।
दूरदर्शिभिरेतस्माद्धेतोः संचालिता शुभा ॥६५॥
कुंभपर्वणि तीर्थेषु विभिन्नेषु सचेतनैः।
सम्मेलनैः क्रियंते स्म तत्र चायोजितानि तु॥६६॥

टीका—धार्मिक एवं सामाजिक विपन्नताओं को निरस्त करने के लिए वाजपेय यज्ञों का प्रचलन था। उनमें अग्निहोत्र के अतिरिक्त ज्ञानयज्ञ की प्रधानता रहती थी। एक विचार के, एक स्वभाव के, व्यक्ति जब एक लक्ष्य-उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकत्रित होते हैं तो उनका चिंतन, पर्यवेक्षण और निर्धारण कल्याणकारी उपाय खोजता

है। फलतः सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुलता है, संकट के निवारण का मार्ग प्रशस्त होता है। विभिन्न पर्वों पर विभिन्न तीर्थों में ऐसे ज्ञानयज्ञ करते रहने की परंपरा दूरदर्शी ऋषियों ने इसी हेतु चलाई। कुंभपर्वों को ऐसे ही प्राणवान सम्मेलनों के रूप में आयोजित किया जाता था॥ ६०-६६॥

मेलापकैः क्रियंते स्म धार्मिकैर्देवसंस्कृतेः।
उन्नतेर्हेतवेऽनेके भव्यास्तत्र पुरोगमाः॥ ६७॥
दिनेषु येषु चाभूवन् धार्मिकायोजनानि तु।
स्थाने स्थाने झटित्येषु दिवसेषु तदा तु सा॥ ६८॥
धर्मधृतेः प्रौढताऽथ प्रखरत्वमितस्ततः।
सर्वत्र ददृशे येन सदाचारोऽभिवर्धते॥ ६९॥

टीका—धार्मिक मेले देव संस्कृति के उन्नयन की आवश्यकता विभिन्न मनोरंजक कार्यक्रमों द्वारा संपन्न करते थे। जिन दिनों ऐसे छोटे-बड़े धर्म आयोजन स्थान-स्थान पर जल्दी-जल्दी होते रहते थे, उन दिनों धर्मधारणा की सर्वत्र प्रौढ़ता प्रखरता दृष्टिगोचर होती थी, जिससे सदाचार में वृद्धि होती रही॥ ६७-६९॥

अमुकेषु हि तीर्थेषु पर्वस्नानदिनेषु तु।
गमने महत्त्वसंख्यानं दृष्ट्या चैवैतया कृतम्॥ ७०॥
धर्मप्रेमाण एतस्मिन् समये स्युरुपस्थिताः।
संख्यायां विपुलायां ते विचाराणां परस्परम्॥ ७१॥
विनिमयेन समर्थेन मार्गदर्शनकेन च।
उद्दिश्य प्रगतिं चाऽत्र कालिकीं किञ्चिदेव च॥ ७२॥
उच्चस्तरं चिंतयेयुः कुर्युर्निर्धारणं तथा।
महत्त्वपूर्णं राष्ट्रं स्यादेकताबद्धमंततः॥ ७३॥

टीका—पर्व-स्नान के लिए अमुक तीर्थों में पहुँचने का माहात्म्य इसी दृष्टि से कहा गया है कि धर्मप्रेमी इन अवसरों पर बड़ी संख्या में पहुँचा करें और परस्पर विचार-विनिमय एवं समर्थ मार्गदर्शन में सामयिक प्रगति के लिए कुछ उच्चस्तरीय सोचा और महत्त्वपूर्ण निर्धारण किया करें, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र एकता के सूत्र में बँधा रहे॥ ७०-७३॥

कार्यान्वितं विधातुं च तद्धि निर्द्धारणं ततः।
समूहसहयोगेन योजनाबद्धरूपतः ॥ ७४॥
व्यवस्था संभवेत्तत्र यतः प्राणा इव स्मृता।
समूहशक्तिर्दैव्यास्तु संस्कृतेरुत्तमा नृणाम्॥ ७५॥
आधारमिममाश्रित्य दुर्गां तामवतार्य च।
मुक्ता विपद्भ्यो देवास्ते गतं वर्चस्वमाप्नुवन्॥ ७६॥
सत्प्रवृत्तिमिमां कर्तुं स्थिरामुद्बोद्धुमप्यथ।
धर्मोत्सवा महत्त्वेन पूर्णाः सामूहिका मताः॥ ७७॥

टीका—साथ ही उस निर्धारण को कार्यान्वित करने के लिए सामूहिक सहयोग से योजनाबद्ध व्यवस्था भी बन जाया करे। सामूहिकता देव संस्कृति का प्राण है, इसी आधार पर दुर्गा का अवतरण करके देवताओं ने विपत्ति से छुटकारा पाया और अपना खोया हुआ वर्चस्व लौटाया था। इस सत्प्रवृत्ति को बनाए रहने और उभारने के लिए सामूहिक धर्मोत्सवों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पाया गया॥ ७४-७७॥

धर्मोत्सवस्य शृंखलायां नात्रशैथिल्यमापतेत्।
उद्दिश्यैतद् व्यधुर्ज्ञानसत्रं ते सूतशौनकाः॥ ७८॥
मुनयो मनीषिणस्तत्र संज्ञान-परिपुष्टये।
आययुर्दूरदेशेभ्यस्तथा निश्चित्य शोभनम्॥ ७९॥

स्थानं विशेषमेते च विद्वांसोऽकार्षुरेव तु।
आयोजनानि दिव्यानि चातुर्मासस्य संततम्॥ ८०॥
वर्षर्तौ न्यूनताऽस्त्येव कार्याणां तेन संगता।
तत्रत्य-जनता लाभमध्यगच्छत्ततः सदा॥ ८१॥

टीका—धर्मोत्सवों की शृंखला में शिथिलता न आने पाए इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सूत-शौनक आदि मिल-जुलकर विशालकाय ज्ञानसत्र चलाते रहे हैं। उनमें हजारों मुनि-मनीषी सद्ज्ञान-संवर्द्धन के उद्देश्य से दूर-दूर से आकर सम्मिलित होते थे। विद्वान लोग स्थान विशेष का चुनाव करके वहाँ चातुर्मास आयोजन करते थे। वर्षा में काम कम रहने के कारण उन क्षेत्रों की जनता एकत्रित होकर उनका लाभ भी उठाती थी॥ ७८-८१॥

आयोजन-क्रमस्यात्र देवसंस्कृति-विस्तरे।
योगदानमभूद् भूय एष विद्यालयेष्वथ॥ ८२॥
गुरुकुलेषु समेष्वेव पाठ्यमानस्य मन्यताम्।
पाठ्यक्रमस्य तुल्योऽयमायोजनबृहत्क्रमः॥ ८३॥

टीका—देव संस्कृति के विस्तार में आयोजन-प्रक्रिया का अत्यधिक योगदान रहा है। इसे विद्यालयों और गुरुकुलों में पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रम के समतुल्य ही समझा जाना चाहिए॥ ८२-८३॥

सेवानिवृत्त-निश्चिंतता व्यक्तयोऽर्हन्ति कर्मणः।
संपादयितुमिमं पाठ्यक्रमं नियमतोऽनिशम्॥ ८४॥
आरण्यकेषु गत्वा च गुरुकुलेष्वपि सक्षमाः।
वातावृतौ शुभायां ते वास-लाभं समर्जितुम्॥ ८५॥
व्यस्तैर्न पुरुषैरेतच्छक्यं कर्तुं सदैव च।
जन-जागृतिहेतोश्च जंगमानामभूत्ततः॥ ८६॥

ज्ञानयज्ञस्य धर्मानुष्ठानानां च परंपरा।
परिणामः शुभश्चास्या दृष्टः सर्वैरपिस्वयम्॥ ८७॥

टीका—निवृत्त-निश्चिंत व्यक्ति आरण्यकों एवं गुरुकुलों में प्रवेश पाकर नियमित रूप से अधिक समय तक पाठ्यक्रम संपन्न कर सकते हैं और श्रेष्ठ वातावरण में देर तक निवास करने का लाभ उठा सकते हैं, किंतु व्यस्त लोगों के लिए वह सदा संभव नहीं हो पाता। इसलिए जनजागरण के लिए चलते-फिरते समय-समय पर होने वाले ज्ञानयज्ञों-धर्मानुष्ठानों की परंपरा चली। इसका सत्परिणाम भी देखने को मिला॥ ८४-८७॥

विधिनोद्देश्यपूर्णेन यावदेष क्रमोऽचलत्।
वातावृतौ तु देवत्वं तावच्छत्रायितं ह्यभूत्॥ ८८॥
जनानां जीवने तस्य ददृशेऽप्युद्गतिः सदा।
प्रमादात्सर्वमेवैतन्निरुद्देश्यमथापि च ॥८९॥
स्थितिं प्रहसनानां तु याति, सेव च जायते।
परिणतिर्भारभूतानां मनोरंजनकर्मणाम् ॥९०॥
पुरेव कर्तुमुद्देश्यपूर्णमेनं क्रमं बुधाः।
युज्यते, परिवर्त्यश्च कालेऽस्मिन् विद्यते त्वयम्॥ ९१॥
एतदर्थं च विज्ञास्तु गृहीत्वा दूरदर्शिताम्।
कुर्युर्यत्नं च संस्कर्तुं येनैषा देवसंस्कृतिः॥ ९२॥
पुनः जीव्यादनेनैव जीवितुं युज्यतेऽपि च।
कल्याणं भविता तेन मर्त्यमात्रस्य निश्चितम्॥ ९३॥

टीका—जब तक यह सत्र उद्देश्यपूर्ण ढंग से चलता रहा जब तक वातावरण में देवत्व छाया रहा और जनजीवन में उसका उभार दृष्टिगोचर होता रहा। अब प्रमाद वश वह सब निरुद्देश्य और प्रहसन

मात्र बनता जा रहा है। फलतः उसकी परिणति भी भारभूत मनोरंजनों जैसी होती जा रही है। इसे बदलने और पुरातनकाल की तरह उद्देश्यपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। विज्ञजनों को इसके लिए दूरदर्शिता अपनाकर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। देवसंस्कृति का पुनर्जीवन इसी प्रकार बन पड़ेगा। तभी मानवमात्र का कल्याण हो सकेगा॥ ८८-९३॥

तृतीयस्य दिनस्येदं मार्गदर्शनमुत्तमम्।
जातं रुचिकरं तेषां सर्वैस्तैर्निश्चितं ततः॥ ९४॥
निवृत्यातो विधास्यामः कार्यक्षेत्रेषु स्वेषु तु।
धर्मायोजन कार्याणि सोद्देश्यानि तथैव च॥ ९५॥
जनजागृतिजं पुण्यलाभं प्राप्स्याम उत्तमम्।
प्रसन्नश्चांतरात्मा स्याज्जनता सेविता भवेत्॥ ९६॥

टीका—तीसरे दिन का यह मार्गदर्शन सभी को बहुत भाया और सभी ने निश्चय किया कि वे लौटने के उपरांत अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में धर्मायोजनों का उद्देश्यपूर्ण प्रचलन निर्धारण करेंगे और जनजाग्रति का पुण्यलाभ लेंगे, इससे अंतरात्मा तृप्त होगी व जनता-जनार्दन की सेवा भी होगी॥ ९४-९६॥

सत्रे विसर्जिते सर्वे कुटीराँस्तेऽगमँस्ततः।
अभिवादनपूर्वं च सायं संध्यामुपासितुम्॥ ९७॥

टीका—सत्र का विर्सजन हुआ। लोग अभिवादन पूर्वक सायंकाल की क्रिया-प्रक्रिया को संपन्न करने के लिए अपने-अपने निवास-कुटीरों में चले गए॥ ९७॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते 'संस्कार पर्व-माहात्म्य' इति प्रकरणो नाम
॥ तृतीयोऽध्यायः॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

तीर्थ-देवालय प्रकरण

प्रारब्धं ज्ञानसत्रं तु चतुर्थस्य दिनस्य च।
पूर्ववत्सन्निधौ तत्र प्रकृते रम्यता भृतः॥ १॥
ज्ञानगोष्ठ्यः शुभारंभकाले चाध्यापकस्तु सः।
शांडिल्यः करबद्धः सन्नुत्थितोऽध्यक्षमुक्तवान्॥ २॥

टीका—चौथे दिन का ज्ञानसत्र फिर पिछले दिन की भाँति ही प्रकृति के सान्निध्य में आरंभ हुआ। आज की ज्ञानगोष्ठी के शुभारंभ अवसर पर प्राध्यापक शांडिल्य ने खड़े होकर सत्राध्यक्ष से करबद्ध होकर पूछा— ॥ १-२ ॥

शांडिल्य उवाच—

देवालयस्थापनाया महत्त्वं देवसंस्कृतौ।
दृश्यतेऽत्यधिकं संति मंदिराणि स्थले स्थले॥ ३॥
बाहुल्यस्यास्य हेतुं तु ज्ञातुं सर्वे समुत्सुकाः।
अनेके किं च गृह्णन्ति कष्टसाध्यं जनाः समे॥ ४॥
विधिं तं तीर्थयात्रायाः कालं वित्तं तथा श्रमम्।
अर्पयन्ति ये तदर्थं च को लाभोऽनेन कीदृशः॥ ५॥
कथं च तीर्थयात्रायाः शास्त्रकारैर्निरूपितम्।
देवदर्शनसंभूतं महत्त्वं विपुलं तथा ॥ ६॥
तन्निमित्तं किमौत्सुक्यं धर्मप्रेमिषु दृश्यते।
जनेषु कृपयैतच्च रहोऽस्माकं विबोध्यताम्॥ ७॥

टीका—शांडिल्य ने पूछा—हे महाभाग! देवसंस्कृति में देवालयों की स्थापना का महत्त्व देखा जाता है। स्थान-स्थान पर अनेकानेक

मंदिर बने हैं। इस बहुलता का क्या कारण है, सो जानने के लिए हम सब बहुत उत्सुक हैं। साथ ही यह भी जानना चाहते हैं कि तीर्थयात्रा की कष्टसाध्य-प्रक्रिया को क्यों अनेकानेक लोग अपनाते हैं? क्यों श्रम, समय और धन इस निमित्त लगाते हैं? इससे उन्हें किस प्रकार क्या लाभ होता है? शास्त्रकारों ने क्यों देव दर्शन और तीर्थयात्रा का इतना महत्त्व बताया है कि उनके निमित्त धर्मप्रेमियों में इतनी उत्सुकता पाई जाती है? कृपया इस रहस्य का विस्तारपूर्वक उद्घाटन करें॥ ३-७॥

कात्यायन उवाच—

अस्ति श्रेयस्करी विद्वन् ! जिज्ञासा भवतस्त्वियम्।
ये श्रोष्यंति समाधानं त्वस्य प्रश्नस्य ते जनाः॥ ८॥
लाभान्विता भविष्यंति लक्ष्यं प्राप्स्यंति जीवने।
भवद्भिः सावधानैश्च श्रूयतां सर्वमादितः॥ ९॥

टीका—कात्यायन बोले—हे मनीषी ! आपकी जिज्ञासा सब प्रकार श्रेयस्कर है। जो इसका समाधान सुनेंगे वे सभी इससे बहुत लाभान्वित होंगे व जीवनलक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें॥ ८-९॥

उद्घोषकाः प्रवक्तारो वोढारो देवसंस्कृतेः।
उच्यंते ब्राह्मणा येषां वर्गभेदो द्विधा मतः॥ १०॥
आश्रमस्थास्तु तत्रैकेऽपरे पर्यटकास्तथा।
मुनयो मनीषिणस्त्वाद्याः कथ्यंते चाऽपरे तु ते॥ ११॥
संन्यासिनो वानप्रस्था उभयोर्मिलितस्तु सः।
समुदाय इह प्रोक्तः साधुरित्यविशेषतः॥ १२॥
अस्य वर्गस्य दिव्या सा प्रखरता देवसंस्कृतिम्।
प्रखरां व्यापकां चक्रे तथैव च समुन्नताम्॥ १३॥

टीका—देव संस्कृति के भारवाहक, उद्घोषक, प्रवक्ता वर्ग को ब्राह्मण कहते हैं। उनके दो वर्ग हैं—आश्रमवासी और पर्यटक। आश्रमवासियों को मुनि-मनीषी कहते हैं और परिव्राजकों को वानप्रस्थ-संन्यासी। इन दोनों का सम्मिलित समुदाय 'साधु' नाम से जाना जाता है। इस वर्ग की प्रखरता ने ही देव संस्कृति को समुन्नत, प्रखर और व्यापक बनाया है॥ १०-१३॥

महामानवसंज्ञाश्च मानवेभ्यः सदा त्विमे।
देवसंस्कृतिपक्षस्थ विकासाभ्यासयोः कृते॥ १४॥
सुविधा प्रददत्यत्र गृहस्था गुरुकुलस्य च।
आरण्यकस्य मार्गेण विरक्तास्तीर्थयात्रया॥ १५॥

टीका—ये महामानव मनुष्यमात्र को देव संस्कृति के अनुरूप अभ्यास और विकास की सुविधाएँ प्रदान करते थे। इनमें से गृहस्थ, गुरुकुलों एवं आरण्यकों के माध्यम से तथा विरक्त तीर्थ यात्राओं के द्वारा यह क्रम निभाते थे॥ १४-१५॥

निर्वहंति क्रमं चैनं तत्र देवाल इमे।
आश्रमेषु पुरेष्वेवाभूवन् ग्रामेषु तेषु च॥ १६॥
एतेषामुपयोगश्च श्रद्धाया वृद्धये तथा।
सदाचारस्य वृद्ध्यर्थं भवंति स्म निरंतरम्॥ १७॥

टीका—देवालय भी ऐसे ही उद्देश्यों के लिए आश्रमों में, नगरों और ग्रामों में भी होते थे। इनका उपयोग श्रद्धा एवं सदाचार-संवर्द्धन के लिए सदैव होता था॥ १६-१७॥

प्रतीकपूजामाश्रित्य चलिता पद्धतिस्त्वियम्।
भारतीयस्य धर्मस्य शिक्षणस्य समुज्ज्वला॥ १८॥

धर्माऽध्यात्मरहस्त्वत्र प्रतीकप्रतिमाध्वना।
बोधितं, देवतानां तां आकृतीनां विभिन्नता॥ १९॥
आयुधानि तथा वाहा संति तेषां तु ये तथा।
अनेकमुखहस्ताश्च सर्वेषामेव निश्चये॥ २०॥
उद्देश्यत्वेन भावोऽयं विद्यते तत्र सुदृढ़ः।
परंपराभिराबद्धैर्देवानां नियमैस्तथा॥ २१॥
तथ्यैः सर्वाञ्जनान् बोद्धुं साधारणमतीनपि।
उत्साहवर्धकं स्याच्च सदैवाकर्षणं महत्॥ २२॥

टीका—भारतीय धर्म की शिक्षणपद्धति प्रतीक पूजा के रूप में प्रचलित हुई है। धर्म और अध्यात्म के रहस्यों को भारतीय धर्म में प्रतीक-प्रतिमाओं के माध्यम से समझाया गया है। देवताओं की विभिन्न आकृतियाँ, उनके आयुध, वाहन एवं अनेक मुख, हाथ निर्धारित करने के पीछे यह उद्देश्य है कि देव परंपराओं के साथ जुड़े हुए नियमों, तथ्यों रहस्यों से सर्वसाधारण को समझने-समझाने का उत्साहवर्द्धक आकर्षण बना रहे॥ १८-२२॥

वस्तुतो भगवानेक एव स वर्ततेऽस्ति नो।
सहभागोऽपि वा कश्चित्तस्य नापि सहायकः॥ २३॥
एकाकी स समस्तं तज्जगत्स्थावरजंगमम्।
सृजत्यवत्यथान्ते च संहरत्यात्मनैव च॥ २४॥
सत्ये तथ्येऽपि चैतस्मिन्नेकं सद् बहुधा तु तत्।
विप्रा वदंति चैकं तु च्छ्रुतावुक्तमनेकगम्॥ २५॥
प्रत्यूर्मिसूर्यबिंबस्य स्वतंत्रास्तित्वमुज्ज्वलम्।
इवास्तीदं विजानंति ये न ते भेदबोधिनः॥ २६॥

परं विभिन्नताभिस्तु एताभिस्तत्त्वबोधजम्।
रहस्यं विविधं ज्ञातुं सुविधाः प्राप्नुवन्त्यलम्॥ २७॥

टीका—वस्तुतः भगवान एक है। उसका न कोई साझेदार है, न सहायक। अकेला ही सृष्टि का सृजन, पालन और संचालन करता है तथा अंत में संहार भी करता है। इतने पर भी '**एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति**' की श्रुति में एक को अनेक रूप में प्रस्तुत किया है। वह हर लहर पर स्वतंत्र सूर्य चमकाने की तरह है, जो इस तथ्य को जानते हैं, वे भगवान की अनेक आकृतियों को देखकर भ्रम में नहीं पड़ते, वरन इस विभिन्नताओं के माध्यम से तत्त्वज्ञान के अनेक रहस्यों को समझाने की सुविधा प्राप्त करते हैं॥ २३-२७॥

सर्वाऽपि प्रतिमा दृश्यं पाठ्यपुस्तकमस्ति हि।
माध्यमेन च यस्यास्तु जीवनस्यात्र दर्शनम् ॥ २८॥
आत्मविज्ञानके संति रहांस्येतानि यानि तु ।
बोद्धुं शक्यानि तान्याशु बालबोध इवाञ्जसा॥ २९॥
वयस्काः शिक्षिता एव पठितुं पुस्तकानि तु।
समर्थाः परमेतासां प्रतिमानां स्वरूपतः॥ ३०॥
सामान्याः पुरुषाश्च स्युर्बहुज्ञातुं क्षमाः स्वयम्।
एतादृशं स्वरूपं हि प्रतिमानां तु वर्तते॥ ३१॥
अनेकत्वे चैकताया दर्शनस्येयमुत्तमा।
पद्धतिर्विद्यतेऽपीह मनोरंजनकारिणी ॥ ३२॥
सारगर्भा दूरदर्शिभावगा व्यवहारगा।
मनोविज्ञानबोधस्य ध्यानं संस्थापने कृतम्॥ ३३॥

टीका—हर देव प्रतिमा एक दृश्यमान पाठ्य पुस्तक है। जिसके माध्यम से जीवन दर्शन और आत्म विज्ञान के गूढ़ रहस्यों को बालबोध की तरह समझा और समझाया जा सकता है। पुस्तकें तो शिक्षित वयस्क ही पढ़-समझ सकते हैं, पर प्रतिमा-प्रतीकों के दृश्यस्वरूप के सहारे सामान्य जन भी बहुत कुछ जान और सीख सकते हैं, प्रतिमाओं का स्वरूप ही ऐसा है। अनेकता के बीच एकता देखने की यह पद्धति मनोरंजक भी हैं, और सारगर्भित भी, व्यावहारिक और दूरदर्शितापूर्ण भी। इस स्थापना में मानव मनोविज्ञान का समुचित ध्यान रखा गया है॥ २८-३३॥

प्रत्येकस्य समीपस्थं सेवाक्षेत्रमपि त्विह।
यदुच्यते मंडलं तज्जनजागृतिकारकः ॥ ३४॥
उत्तरदायित्वनिर्वाहकारणाद् धर्मधारणात्।
मंडलाधीश एवाथ मंडलेश्वर एव वा॥ ३५॥
कथ्यते, विस्तृतं यस्य क्षेत्रं स कथ्यते बुधैः।
स महामंडलेशस्तु बहुमंडलशासकः ॥ ३६॥

टीका—हर देवालय का एक समीपवर्ती सेवा क्षेत्र भी निर्धारित होता है, इसे मंडल कहते हैं। मंडल-क्षेत्र में जनजाग्रति और धर्मधारणा का उत्तरदायित्व सँभालने वालों को मंडलाधीश या मंडलेश्वर कहते हैं। जिनका सेवा क्षेत्र बड़ा है, जो अनेक मंडलों की व्यवस्था सँभालते हैं, उन्हें महामंडलेश्वर कहते हैं॥ ३४-३६॥

दायित्वमनयोस्तत्र कर्त्तव्यं च द्विधैव तत्।
विभक्तं तत्र तत्रत्य विधीनां निर्मितः सदा॥ ३७॥
प्रशिक्षणपरा कार्या कथासत्संगयोरपि।
विद्यालस्य धर्मानुष्ठानस्यापि विशेषतः ॥ ३८॥

व्यायामभवनस्याथ चिकित्सासद्मनोऽपि च।
प्रखरत्वविनिर्माणं पुस्तकालयसंस्थितेः ॥ ३९ ॥
द्वितीयं स्वस्यसंपर्कक्षेत्रे सद्वृत्तिवर्धकम्।
पौरोहित्यस्य कर्मेतत्कर्त्तव्यं भवति प्रियम् ॥ ४० ॥
एतदर्थं जनैस्तत्र संपर्कं साधितुं तथा।
घनिष्ठतां विधातुं चानिवार्यत्वं मतं स्वतः ॥ ४१ ॥
यदर्थं यत्नशीलाश्च देवालयसुशासकाः।
सदा संति ददत्येते महत्त्वमुभयोः स्थितम् ॥ ४२ ॥

टीका—इनका कर्त्तव्य-उत्तरदायित्व दो भागों में बँटा रहता है। एक स्थानीय गतिविधियों को लोक-शिक्षण परक बनाए रहना। वहाँ पाठशाला, व्यायामशाला, कथा-सत्संग, धर्मानुष्ठान, पुस्तकालय, चिकित्सालय आदि रचनात्मक गतिविधियों को प्रखर बनाए रहना। दूसरा संपर्क-क्षेत्र में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन को पौरोहित्य करना। इस निमित्त उस क्षेत्र की जनता के साथ संपर्क साधने और घनिष्ठता रखने की आवश्यकता पड़ती है, जिसके लिए देवालय के संचालक निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं। वे स्थानीय और क्षेत्रीय व्यवस्था को समान महत्त्व देते हैं ॥ ३७-४२ ॥

पूजैषा मानवस्याथ प्रभोर्धर्मस्य संस्कृतेः।
आश्रमस्थानतो विप्रान् वदंत्यपि च पूजकान् ॥ ४३ ॥

टीका—यह भगवान मनुष्य और धर्मसंस्कृति की वास्तविक पूजा है, इसलिए उन आश्रमवासी ब्राह्मणों को पुजारी भी कहते हैं ॥ ४३ ॥

जनजागरणसंबद्धा येऽनिवार्या उपक्रमाः।
तेषां संचालनायात्र प्रशिक्षण गृहाअपि ॥ ४४ ॥

उपासना स्थलैः सार्धमावाससहिता इमे।
कर्तुं परंपरा दिव्या वर्तते व्यावहारिकी॥ ४५ ॥
प्रशिक्षणस्थलस्याथ पूजाकक्षस्य तस्य च।
संचालकनिवासस्य प्रक्रियाभिः समग्रतः ॥ ४६ ॥
देवालय स्थितिर्नूनं जायते केवलां तु ताम्।
प्रतिमास्थापनामाहुरेकांगानुपयोगिनीम् ॥ ४७ ॥
विना तावत्प्रबंधेन पूर्तिर्नोद्‌देश्यपूरका ।
संभवेद् येभ्य आप्तैस्तु देवालयविनिर्मितेः ॥ ४८ ॥
योजनाऽऽप्ता महाशक्तेर्व्ययः कार्यान्वयाय च।
कृतो गाथाश्च गीतास्ता माहात्म्यानां सुविस्तराः ॥ ४९ ॥

टीका—जनजागरण संबंधी आवश्यक गतिविधियों के संचालन के लिए देवालयों में उपासना स्थल के साथ ही प्रशिक्षण तथा आवास स्थल भी रखने की परंपरा है, जो व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पूजाकक्ष, संचालक निवास एवं प्रशिक्षण स्थल की त्रिविध-प्रक्रियाओं का समावेश रहने से ही एक समग्र देवालय बनता है। प्रतिमामात्र की स्थापना को एकांगी, अनुपयोगी एवं निषिद्ध ठहराया गया है। इतना प्रबंध न हो पाने पर उन उद्‌देश्यों की पूर्ति संभव नहीं, जिनके लिए आप्तजनों ने देवालयों को स्थापित करने की योजना बनाई और कार्यान्वित करने में असीम शक्ति लगाई। प्रेरणा देने वाले माहात्म्यों की गाथा गाई ॥ ४४-४९ ॥

कात्यायन उवाच—

भद्रा ! देवालयस्येदं पारम्पर्यं वहंति ते।
ब्राह्मणा आश्रमस्थास्तु तथैव श्रमणादपि॥ ५० ॥

जनजागृतिकार्यस्य पुण्ये लग्ना विधौ च ये।
परिव्राजकविप्राणां पद्धतिस्त्वात्मनोऽस्ति सा॥ ५१॥
वानप्रस्थाः प्रवृत्तास्ते संन्यासस्था इहैव तु।
यथा मेघा धरां शुष्कां सिञ्चितां कर्तुमुद्यताः॥ ५२॥
धावंति च जगत्प्राणो गत्वा प्राणान् प्रयच्छति।
मनुष्येभ्यस्तथा चैष प्रभाया ऊष्मणोऽपि च॥ ५३॥
दाता दिवानिशं धत्ते प्रव्रज्यामिव भास्करः।
तमिस्रायां प्रभां शैत्यं शीतांशुः स प्रयच्छति॥ ५४॥
देवा इव मनुष्येषु देवानां स्तरगास्तु ये।
जनजागृतिहेतोस्ते भ्रमंति हृदये नृणाम्॥ ५५॥
तत्र धर्मधृतिं भावयंति दिव्यां गृहे गृहे।
सद्वृत्तिवर्धनस्यापि प्रखरं कर्म कुर्वते॥ ५६॥
प्रयोजनाय चैतस्मै यत्ना येऽनेकरूपिणः।
क्रियंते तीर्थयात्रास्ते कथ्यंते सर्व एव हि॥ ५७॥

टीका—कात्यायन पुनः बोले—हे भद्रजनो! जिस प्रकार देवालय परंपरा को आश्रमवासी ब्राह्मण सँभालते हैं, उसी प्रकार परिभ्रमण द्वारा जनजागरण की पुण्य-प्रक्रिया में निरत रहने वाले परिव्राजक, संतसमुदाय की अपनी कार्यपद्धति है। वानप्रस्थ और संन्यासी इसी में प्रवृत्त रहते हैं। बादल सूखी भूमि को सींचने के लिए दौड़ते हैं। पवन हर प्राणी को उनके पास जा-जाकर प्राण अनुदान बाँटता है। सूर्य की अहर्निश प्रव्रज्या संसार को गरमी तथा रोशनी बाँटने के निमित्त चलती है। चंद्रमा सघन तमिस्रा में यथा संभव प्रकाश देता और शीतलता बिखेरता है। इन देवताओं की तरह मनुष्यों में जो देवस्तर

के हैं, वे जनजागरण के लिए सर्वत्र परिभ्रमण करते जन-जन के मन में धर्मधारणा उगाते, घर-घर में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन का अलख जगाते हैं। इस प्रयोजन के लिए विभिन्न रूप में किए जाने वाले प्रयत्न तीर्थयात्रा कहलाते हैं॥ ५०-५७॥

साधुभ्यस्तीर्थयात्रायास्तपः कर्तुं सदैव तु।
शास्त्रीयं वर्तते दिव्यं विधानं पुण्यदायकम्॥ ५८॥
अयमुच्चतरो नूनं योगाभ्यासोऽस्ति वा पुनः।
देवाराधनमेतस्माद् यत्नस्यास्य फलं नहि॥ ५९॥
कस्मादपि विचारात्तु न्यूनमास्ते परार्थगात्।
मंडले यांति सर्वे ते परिव्राजकसाधवः ॥ ६०॥
येन यत्रापि वासः स्यात्प्रचारस्तत्र संभवेत्।
सोत्साहं मंडले तत्र भवन्त्येव सदैव च॥ ६१॥

टीका—साधु समुदाय को सर्वदा तीर्थयात्रा की तपश्चर्या करते रहने की पुण्यदायी शास्त्रीय विधान है। यह उच्चस्तरीय योगाभ्यास एवं देवाराधन है। इस प्रयास का पुण्यफल किसी भी परमार्थ उपक्रम से यह नहीं माना गया है। इसके लिए परिव्राजक, मंडली बनाकर निकलते हैं, ताकि जहाँ ठहरें वहाँ उत्साहवर्द्धक प्रचार-प्रक्रिया संपन्न कर सकें॥ ५८-६१॥

तीर्थयात्रास्वरूपं तु पदयात्रैव विद्यते।
लोकैश्च बहुभिर्भूयान् संपर्कस्त्वेवमेव हि॥ ६२॥

टीका—तीर्थयात्रा का स्वरूप पदयात्रा है, क्योंकि अधिक लोगों से अधिक जनसंपर्क-साधना, इसी प्रकार संभव हो सकता है॥ ६२॥

तीर्थयात्रिपरिव्राजः, स्वयात्राया उपक्रमम्।
क्षेत्रावश्यकतारूपं कुर्वते विश्रमस्य च ॥ ६३॥

तेषां व्यवस्थितिं तेभ्यः सुविधानां समर्जनम्।
स्थाने-स्थाने स्थितान्येव कुर्वंते मंदिराणि तु॥ ६४॥

टीका—तीर्थयात्री परिव्राजक अपनी यात्रा का उपक्रम क्षेत्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए बनाते हैं। उनके विराम के लिए सुविधा जुटाने और व्यवस्था बनाने का उत्तरदायित्व स्थान-स्थान पर विनिर्मित देवालय सँभालते हैं॥ ६३-६४॥

उपहारान् दक्षिणां च स्थापयेद्देवसंमुखे।
दर्शकस्तत्र, भोगस्य प्रबंधोऽपि भवेत्सदा॥ ६५॥
आश्रमार्थव्यवस्थां च कर्तुं संतुलितामिदम्।
निर्धारणं वर्ततेऽत्र निश्चितं देवसद्मनाम्॥ ६६॥

टीका—देवता के सम्मुख दर्शक भेंट-दक्षिणा रखें। उनके भोग आदि का प्रबंध रहे यह निर्धारण आश्रम की अर्थव्यवस्था सुसंतुलित रखने के लिए है॥ ६५-६६॥

संपर्कस्तीर्थयात्राया देवसद्मन एव च।
मध्ये ह्येतादृशः सोऽस्ति यथा ते पूरका मताः॥ ६७॥
साधवो ब्राह्मणाश्चैव परस्परमिमे समे।
पणस्यैकस्य पार्श्वौ द्वौ मतौ तु मिलितौ यथा॥ ६८॥

टीका—तीर्थयात्रा और देवालय व्यवस्था के बीच उसी प्रकार का तालमेल है, जैसा कि साधु और ब्राह्मणों को परस्पर पूरक माना गया है और एक ही सिक्के के दो पहलू कहा गया है॥ ६७-६८॥

शांडिल्य उवाच—

धर्म-प्रचारका नैव जना ये संति ते कथम्।
तीर्थयात्रानिमित्तेन यांति तीर्थानि संततम्॥ ६९॥

कारणं विद्यते किं तद् भगवन् बोध्यतामिदम्।
आकर्ण्यैतन्महर्षिः स प्राह कात्यायनस्तदा ॥ ७० ॥

टीका—शांडिल्य बोले—हे भगवन्! जो लोग धर्मप्रचारक नहीं है, वे क्यों तीर्थयात्रा के निमित्त जाते हैं। इसका कारण बताने की कृपा करें। इस प्रश्न को सुनकर महर्षि कात्यायन बोले— ॥ ६९-७० ॥

कात्यायन उवाच—

विद्वांसस्तीर्थयात्रायाः फलं ते प्राप्नुवन्त्यलम्।
सामान्या अपि ते मर्त्याः प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ ७१ ॥
पदयात्रा स्वास्थ्यवृद्धिं विधत्तेऽनुभवं तथा।
व्यावहारिकमेतच्च ज्ञानं वर्धयति ह्यलम् ॥ ७२ ॥
संपर्को वर्धते नूनं स च परिचयोऽपि तु।
लाभांस्तान् यांति नैकत्र-स्थितायानुपयान्ति ते ॥ ७३ ॥

टीका—कात्यायन बोले—हे विद्वज्जनो! सामान्य जनों को भी तीर्थयात्रा का पुण्यफल प्रत्यक्ष मिलता है, इसमें संदेह नहीं। पदयात्रा से स्वास्थ्य सुधरता है, अनुभव बढ़ता है, व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होती है, परिचय और संपर्क बढ़ता है। इस प्रकार वे उन लाभों को प्राप्त करते हैं, जो एक जगह पर बैठे रहने से मिल ही नहीं सकते॥ ७१-७३ ॥

सामाजिक्या च दृष्ट्यापि लाभा अस्या मता यथा।
विकेंद्रीकरणं श्रेष्ठं स्वतो वित्तस्य जायते ॥ ७४ ॥
लघूद्योगा महांतश्च विकासं यांति ते क्रमात्।
विशालत्वं प्रयात्येषा भावना वर्द्धते तथा ॥ ७५ ॥
देशभक्तिस्तथोपैति विस्तरं क्षेत्रमात्मनः।
जना आत्मान एवातः प्रतीयंते समेऽपि च ॥ ७६ ॥

टीका—सामाजिक दृष्टि से भी इसके बड़े लाभ हैं। धन का वितरण-विकेंद्रीकरण होता है, लघु एवं विशाल उद्योग पनपते हैं, विशालता की भावना बढ़ती है, देशभक्ति में प्रखरता आती है और आत्मीयता का क्षेत्र सुविस्तृत होता है। सभी मनुष्य अपने परिवार रूप में दीखते हैं॥ ७४-७६ ॥

स्थितास्तत्र च कुर्वंति त्वात्मशोधनसाधनाम्।
परिष्कुर्वन्ति चात्मानं त्रुटीस्ता दूरयंत्यपि॥ ७७ ॥
प्रायश्चित्तं चरंत्यत्र योगाभ्यासं तथैव च।
रतास्तपसि सत्संगस्वाध्यायौ लभतेऽपि च॥ ७८ ॥
प्राप्यते प्रतिभानां च सप्राणानां तु सन्निधेः।
लाभो महांस्तु यातं ते प्राप्नुवन्त्येव संततम्॥ ७९ ॥
अन्विच्छन्ति समाधानं ग्रन्थीनां कुर्वते तथा।
व्यवस्थितां योजनां ते भविष्यन्निर्धृतेः शुभम्॥ ८० ॥
वातावृतौ प्रेरकायां वसन्तः प्राणभृत्यपि।
तीर्थसेवनमाहुश्च कल्पसाधनमप्यतः ॥ ८१ ॥
रूपे वास्तविके तच्चेत्संपन्नं क्रियते ततः।
स्वास्थ्यं शरीरसंबन्धिचिन्तनं मानसं तथा॥ ८२ ॥
परिवर्तनमायाति सहजीवन कर्मणा ।
भविष्यन्निर्मितेर्लाभः कायाकल्प इवेष्यते॥ ८३ ॥

टीका—तीर्थ सेवन को मानसिक उपचार माना गया है। वहाँ रहकर लोग आत्मशोधन और आत्मपरिष्कार की साधना करते हैं। भूतकाल की गलतियों को सुधारते हैं। पापों का प्रायश्चित करते हैं। योगाभ्यास और तप-साधना में निरत रहते हैं। स्वाध्याय-सत्संग का

लाभ उठाते हैं। प्राणवान प्रतिभाओं के सान्निध्य से जो असीम लाभ मिलता है, उसे उपलब्ध करते हैं। प्रस्तुत गुत्थियों का समाधान खोजते हैं। तथा भविष्य निर्धारण की सुव्यवस्थित योजना वहाँ के प्राणवान प्रेरणाप्रद वातावरण में रहकर बनाते हैं। तीर्थ सेवन को कल्पसाधन कहा गया है। उसे यदि सही रूप में संपन्न किया जा सके तो शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक चिंतन, जीवनचर्या में परिवर्तन एवं भविष्य-निर्माण की दृष्टि से कायाकल्प जैसा लाभ ही मिलता है॥ ७७-८३ ॥

गत्वा तीर्थेषु बालानां संस्काराणां विधेस्तथा।
पाणिग्रहणकार्यस्य पितृश्राद्धविधेरपि ॥८४॥
वानप्रस्थाश्रमस्यापि विद्यते सा परंपरा।
सर्वेषां हि महत्त्वं तद्ध्येतदाश्रित्य वर्तते॥ ८५ ॥
तस्या वातावृतेर्लाभं गंतृणामञ्जसा नृणाम्।
जीवनं सम्पदां मार्गे दैवीनां क्राम्यति स्वयम्॥ ८६ ॥

टीका—तीर्थों में जाकर बालकों के संस्कार कराने, विवाह करने, वानप्रस्थ लेने, पितरों का श्राद्धकर्म करने की जो प्रथा-परंपरा है, उसका महत्त्व भी इसी आधार पर है कि उस प्रेरणाप्रद वातावरण का इन प्रयोजनों के लिए जाने वाले लोग भी अनायास लाभ लेते हैं, जिससे जीव अनायास दैव संपत्ति के मार्ग में चलने लगता है॥ ८४-८६ ॥

सशक्तां प्रखरां तीर्थप्रक्रियां कर्तुमेव यत्।
दानं प्रदीयते तत्तु सामान्येभ्यः समर्पितात्॥ ८७॥
प्रयोजनेभ्यो वा नृभ्यो दानान्मानितमुत्तमैः।
अनेकगुणपुण्यानां लोके तु फलदायकम्॥ ८८ ॥
तीर्थयात्रा तथेत्थं च यत्र सा वर्तते तपः।
परिव्राजां कृते साधुमनसामृषिरूपिणाम्॥ ८९ ॥

महत्त्वं वर्तते न्यूनं तस्या नृभ्यो न चाण्वपि।
सर्वसाधारणेभ्योऽतो ग्राह्या सा सन्ततं जनैः ॥ ९० ॥
तेऽपि मर्त्या यथाशक्ति कुर्वंतो जनजागृतिम्।
पदयात्राऽनुबद्धानां पुण्यानां कर्मणां बहु ॥ ९१ ॥
लभंते लाभमन्ये च सुविधाः साधनानि ये।
अस्यै समर्पयन्त्येते सद्गतिं यांति धर्मिणः ॥ ९२ ॥

टीका—तीर्थ-प्रक्रिया को जीवन एवं प्रखर बनाने के लिए दिया गया दान, सामान्य व्यक्तियों या प्रयोजनों के लिए दिए गए दान की तुलना में अनेक गुना पुण्य फलदायक माना गया है। इस प्रकार तीर्थयात्रा जहाँ ऋषिकल्प साधुमना परिव्राजकों के लिए उच्चस्तर को तपश्चर्या मानी गई है, वहाँ सर्वसाधारण के लिए उसका महत्त्व कम नहीं है, अतः उसे ग्रहण किया जाना चाहिए। वे भी यथासंभव जनजागरण का कार्य करते हुए उस पदयात्रा के साथ जुड़े हुए पुण्य प्रयोजन का कम लाभ नहीं उठाते हैं। जो इस तीर्थ-प्रक्रिया के लिए सुविधा-साधनों की व्यवस्था करते हैं, वे भी धर्मात्मा कहलाते और सद्गति पाते हैं ॥ ८७-९२ ॥

महांतो मानवाः स्वां तु क्षमतां तीर्थनिर्मितौ।
तद्व्यवस्था निमित्तं च व्यधुस्तत्र नियोजिताम् ॥ ९३ ॥
कर्म चक्रुः परार्थं च पुण्यभाजो यशस्विनः।
अभूवन् मार्गद्रष्टार उच्यंतेऽध्यात्मसंस्कृतेः ॥ ९४ ॥

टीका—अनेक महामानवों ने अपनी क्षमता को तीर्थ स्थापना एवं व्यवस्था के लिए नियोजित किया और सच्चे अर्थों में परमार्थ कमाया, पुण्य और यश के भागीदार बने, जिन्हें अध्यात्म संस्कृति का मार्ग-द्रष्टा भी कहा जाता है ॥ ९३-९४ ॥

सत्रेणाऽऽद्यतनेनालं सन्तोषं सर्व एव ते।
जग्मुरुत्साह एतेषां ववृधे कर्मपद्धतौ ॥ ९५ ॥
देवसंस्कृतिसंबद्धैर्विधिभिर्यानि संति तु।
संसक्तानि महोद्देश्यकर्माणीह च पूर्णतः ॥ ९६ ॥
तानि विज्ञाय सर्वेऽपि श्रोतारस्तत्र निर्मलाः।
प्रसन्नमानसा द्रष्टाः पूर्णे स्वीये मनोरथे ॥ ९७ ॥
सायं सन्ध्याविधेः कालात्पूर्वमेव च शोभनम्।
सत्रमद्यतनं पूर्णं यथापूर्वं यथाविधि ॥ ९८ ॥

टीका—आज के सत्र में सबको बहुत संतोष मिला व कर्म के प्रति उत्साह बढ़ा। देवसंस्कृति के क्रिया-कलापों के साथ जुड़े हुए महान उद्देश्यों से भली प्रकार अवगत होकर सभी श्रोता मनोरथ पूर्ण होने से प्रसन्न दिखाई पड़ते थे। सायंकाल होने से पूर्व अन्य दिनों की तरह आज का सत्र भी समाप्त हो गया॥ ९५-९८ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते 'तीर्थ-देवालय' इति प्रकरणो नाम

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पंचमोऽध्याय: ॥

मरणोत्तर जीवन प्रकरण

पंचमस्य दिनस्यास्मिञ्ज्ञानसत्रे स्थितेष्वलम्।
औत्सुक्यं द्रष्टुमायातं विधाया: साधकेष्वथ॥ १ ॥
उत्सुकास्तेऽधिकं ज्ञातुं कथं सा देवसंस्कृति:।
अवतारयितुं शक्ता जाता स्वर्गं क्षिताविह॥ २ ॥
देवोपमान् मनुष्यांश्च कृतवत्यपि कानि तु।
अभूवन् कारणान्येवमाधारा: के च ते मता:॥ ३ ॥
यानाश्रित्य मनुष्याश्च तत्रासंख्या: स्वगौरवम्।
अवधार्य कृता पारं मनोरथतरिर्नृणाम् ॥ ४ ॥
जिज्ञासूनां परं श्रेष्ठं भृगुं मुनिवरं तथा।
कात्यायनो जगादैवं सर्वान्सञ्ज्ञानसाधकान्॥ ५ ॥

टीका—पाँचवें दिन के ज्ञानसत्र में उपस्थित विद्या साधकों में और भी उत्सुकता पाई गई। वे अधिक जानने के उत्सुक थे। देव संस्कृति ने किस आधार पर धरती पर स्वर्ग उतारा और मनुष्यों को देवोपम बनाया। उसके वे कारण और आधार क्या थे, जिन्हें अपनाकर असंख्यों ने अपनी गरिमा बढ़ाई और असंख्यों की नाव पार लगाई। कात्यायन ने जिज्ञासुओं में श्रेष्ठ मुनिवर भृगु सहित सभी सद्ज्ञान साधकों को संबोधित करते हुए कहा॥ १-५॥

पाययन्त्यमरत्वं वै भृशं तद्देवसंस्कृतौ।
आस्थावत: समस्तांश्च बोधयन्त्यपि ते समे॥ ६ ॥
अमरत्वसुविश्वासा स्यु: सज्जा जीवितुं तथा।
अनन्तं ते विजानीयुर्मृत्युं नान्त: तु विश्रमम्॥ ७ ॥

जीवितानां मृतानां च मन्यन्ते जन्मवासराः।
परम्परेयं मृत्योश्च दिनस्यावसरेऽपि तु॥८॥
अस्तित्वं पूर्वजानां तद् विचार्यैव विधीयते।
श्रद्धाञ्जलिस्ततः श्राद्धकर्म चापि समैरिह॥९॥
कस्यचिन्मृतकस्यापि नान्तमत्र तु मन्यते।
श्रद्धीयतेऽशरीरास्ते ते शरीरा इव स्वकाम्॥१०॥
सत्तां विधाय विद्यंतेऽसंख्यास्ते जीवनस्य च।
उपक्रमं प्रकारेषु विशेषस्तरमाश्रिताः ॥११॥
जीवनस्य स्तरस्त्वेको मन्यतेऽत्राशरीरिणाम् ।
शरीरिणां च वस्त्रस्यापरिधानस्य तस्य च॥१२॥
परिधानस्य मध्यस्थास्थितिरेषा तु विद्यते।
अमरत्वस्य चाभासो विश्वासश्चाप्यतोऽत्र तु॥१३॥
बोध्यते मृत्युमेवान्तं मते या समुदेति सा।
निराशाऽथापि नास्तिक्यं वृणुयातां न कश्चन॥१४॥

टीका—कात्यायन बोले—देव संस्कृति में अमरत्व का पान कराया जाता है। हर आस्थावान को समझाया जाता है कि वह अमरत्व पर विश्वास करे। अनंत जीवन जीने की तैयारी करे। मृत्यु को विराम विश्राम समझे, अंत नहीं। जीवित या मृतकों के जन्मदिन मनाए जाते हैं, यही परंपरा है। मृत्यु दिन के अवसर पर भी पूर्वजों का अस्तित्व बने रहने की बात सोचकर उन्हें श्रद्धांजलि चढ़ाई जाती है। श्राद्धतर्पण सभी के द्वारा किया जाता है। अंत किसी मृतक का भी नहीं माना जाता। समझा जाता है कि वे अशरीरी होते हुए भी शरीरधारियों की तरह सत्ता बनाए हुए हैं और जीवन के असंख्य प्रकारों में से एक विशेष स्तर का उपक्रम बनाए हुए हैं। शरीरधारी और अशरीरी जीवन

का स्तर एक-सा ही माना गया है, जैसा वस्त्र पहनने और न पहनने के बीच होता है। अमरता का आभास-विश्वास इसलिए कराया जाता है कि मृत्यु के साथ अंत मानने पर पनपने वाली निराशा और नास्तिकता किसी के सिर न चढ़े॥ ६-१४॥

विश्वासोऽयं स्थिरस्तिष्ठेज्जीविष्यामो वयं ध्रुवम्।
अनन्तं संगताः कर्मफलश्रृंखलया वयम्॥ १५॥
पराङ्मुखैर्न भाव्यं तु प्रगतेः पथि गन्तृभिः।
नाविश्वस्तो भवेत्कर्मफलसंभावनं प्रति॥ १६॥
मान्यते द्वे यदि स्यातां स्थिरेऽन्तःकरणे ततः।
प्रतिक्रियाऽनयोः श्रेयोदायिनी सुखदा भवेत्॥ १७॥
यत्तु कर्मफलं तत्र विद्यतेऽद्यतनं न तत्।
प्राप्यतेऽद्य ततो लोकाः सन्देहं कुर्वते भृशम्॥ १८॥
विधौ दुःखफलप्राप्तौ सर्वे वै पापकर्मणाम्।
अनंतजीवनस्यास्यां मान्यतायां तथा तु न॥ १९॥
प्रत्येकस्याशुभस्याथ शुभस्यापि च कर्मणः।
भविष्यद्दिवसेष्वेवं फलाप्तौ विश्वसन्त्यमी॥ २०॥

टीका—यह विश्वास बना रहे कि अनंतकाल तक जीवित रहना है और कर्मफल श्रृंखला के साथ अविच्छिन्न संबंध जुड़ा रहना है। इसलिए न तो प्रगति-पथ पर चलते रहने से मुख मोड़ा जाए और न कर्मफल की संभावना के प्रति अविश्वास किया जाए। यह दो मान्यताएँ अंतःकरण में सुस्थिर रहें तो फिर उसकी प्रतिक्रिया बहुत ही सुखद और श्रेयस्कर होती है। आज का कर्मफल आज न मिलने के कारण लोग पापकर्मों का दुःखदायी फल मिलने की विधि-व्यवस्था तक में संदेह करने लगते हैं। अनंत जीवन की मान्यता

सुदृढ़ होने पर वैसा नहीं होता और हर बुरे-भले कर्म का प्रतिफल अगले दिनों मिलने की बात पर विश्वास करते हैं॥ १५-२०॥

कष्टदानस्य दंडश्चेत्तत्कालं नोपलभ्यते।
तत्र तेषां नृणामेव विश्वासो जायते श्लथः॥ २१॥
न विश्वसंति ये मर्त्या जीवने मरणोत्तरे।
स्रष्टुर्विधौ क्रियायास्तु विद्यते वै प्रतिक्रिया॥ २२॥
पापस्य निश्चितो दंडः प्राप्यतेऽनेकरूपतः।
रूपे विविधदुःखानामत्र नास्त्येव संशयः॥ २३॥
नो चेत्तत्कालमेव स्यान्मरणोत्तरजीवने।
नरकादिषु रूपेषु प्राप्तिस्तस्य तु निश्चिता॥ २४॥
कृतस्य फलमाप्तव्यं भवत्येवेति मान्यताम्।
स्वीकर्तुमनिवार्यं च मरणोत्तरजीवनम्॥ २५॥
यतन्ते भृशमेवैते त्वनुगा देवसंस्कृतेः।
आत्मप्रगतिमुद्दिश्य यावदामरणं सदा॥ २६॥

टीका—तत्काल दुःख-दंड न मिलने भर से विश्वास उन्हीं का डगमगाता है, जो मरणोत्तर जीवन पर विश्वास नहीं करते। स्रष्टा की सुनिश्चित विधि-व्यवस्था में क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है। पाप का दंड अनेकानेक दुःखों के रूप में मिलना निश्चित है। यह तत्काल न सही, मरणोत्तर जीवन में स्वर्ग-नरक के रूप में मिलता है। जो किया है, उसका फल मिलेगा ही। इस मान्यता के लिए मरण के उपरांत भी जीवन बना रहने की मान्यता आवश्यक है। देव संस्कृति के अनुयायी मरणकाल तक आत्मिक प्रगति का प्रयास करते हैं॥ २१-२६॥

मृत्योः पश्चादुभौ स्वर्गनरकावत उत्तरम्।
पुनर्जन्मेति ते व्यक्ते पूरके मान्यते त्वुभे॥ २७॥

सुखं दुःखमुभे स्वर्गे विशेषे स्तः स्वतस्तु ते।
परलोके स्थितिः सूक्ष्मास्थूला लोकेऽत्र चैव सा॥ २८॥
उभयथैव फले पुण्यपापयोर्मनुजैरिह ।
प्राप्येते चलतीयं च दीर्घकालं प्रतिक्रिया॥ २९॥
चतुरशीतिकलक्षोक्तयोनिष्वेव नरास्तु ते।
भ्रमंति संति ये त्वत्र कुमार्गाभिरताः सदा॥ ३०॥
त्रासांस्तदनुरूपांश्च सहंतेऽभावमप्यलम् ।
विपरीततया चास्मात्पुण्यात्मानः परे सदा॥ ३१॥
लोके स्वर्गस्य मुक्तेश्च जायंते ह्यधिकारिणः।
पुनर्जन्मनि देवात्मावतारेषु महर्षिषु ॥ ३२॥
महामानवरूपेषु जायंते दिव्यतेजसः ।
दर्शयंति शुभं मार्गं सर्वेषामेव ते ततः ॥ ३३॥

टीका—मरण के उपरांत स्वर्ग–नरक में अपने कर्म के सुख–दुःख हैं और पुनर्जन्म में अपने कर्म के। परलोक में सूक्ष्मस्थिति है और इहलोक में स्थूल। पुण्य–पाप के प्रतिफल दोनों ही प्रकार के भुगतने पड़ते हैं। यह प्रतिक्रिया लंबी चलती है। कुमार्गगामियों को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है और तदनुरूप अभाव एवं त्रास सहने पड़ते हैं। इसके विपरीत पुण्यात्मा परलोक में स्वर्ग और मुक्ति के अधिकारी बनते हैं। पुनर्जन्म होने पर दिव्य तेज संपन्न महामानव, ऋषि, देवात्मा, अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और सभी को कल्याणप्रद मार्ग प्रदर्शित करते हैं॥ २७–३३॥

आस्तिकत्वे चेश्वरस्तु न्यायकर्ता तथैव च।
समदृष्टियुतः सर्वव्यापकश्च मतः समैः॥ ३४॥

क्रियाकृत्यानि प्रेमास्य रोषश्चाश्रयतस्ततः।
अस्याः पुष्टिर्मान्यताया विश्वासेन भवेदिह॥ ३५॥
अनंतजीवनस्यैव सोऽन्यथा मानवो भवेत्।
उद्दंडो नास्तिकः कर्मफलाप्राप्तौ निरंतरम्॥ ३६॥
सर्वनाशश्च स्वस्यैव दृष्टिकोणेन संततम्।
जायतेऽनेन चानीतिजन्यदुःखानि तान्यथ॥ ३७॥
दारिद्र्यं च समस्तेऽपि संसारे यांति विस्तरम्।
अमराः संति देवास्ते देवसंस्कृतिगा अपि॥ ३८॥
नरा आत्माऽमरत्वं च निश्चितं मन्यते सदा।
मरणस्य भयं दुःखं मन्यन्ते न ततश्च ते॥ ३९॥

टीका—आस्तिकता में ईश्वर को न्यायकारी, समदर्शी, सर्वव्यापी माना जाता है। उसका दुलार और रोष क्रिया-कृत्यों पर ही निर्भर रहता है। इस मान्यता की पुष्टि, अनंत जीवन के विश्वास से ही होती है। अन्यथा कर्मफल में देर लगने पर मनुष्य निरंतर कृपण, उद्दंड एवं नास्तिक होने लगता है, इस दृष्टिकोण के अपनाने से अपना सर्वनाश होता है और समस्त संसार में अनीतिजन्य दुःख-दारिद्र्य का विस्तार होता है। देवता अमर होते हैं। देव संस्कृति पर विश्वास करने वाले, मनुष्य की आत्मिक अमरता को सुनिश्चित मानते हैं। फलतः मरण का भय और दुःख भी नहीं मानते॥ ३४-३९॥

पितृणां संततीनां च मध्ये संबंध एष तु।
विद्यते स्वजनैरत्र संपर्कोऽपि भवत्यलम्॥ ४०॥
संबंधिनो दिवं यातान्प्रति द्वारमपावृतम्।
विद्यते स्नेहसद्भावसहयोगं प्रदर्शितुम्॥ ४१॥

कृतानामुपकाराणां प्रतिकर्तुमवाप्यते ।
समयो मान्यतामेतामाश्रित्यैव नरैरिह ॥ ४२ ॥
दिवंगतान् समुद्दिश्य श्रद्धा सद्भावना च या ।
व्यज्यते तच्छुभं कर्म श्राद्धतर्पणमुच्यते ॥ ४३ ॥
मन्यते चैनमाश्रित्य त्वाधारं स्वर्गिणामपि ।
स्वजनानां साहाय्यं श्राद्धिकं कर्तुमिष्यते ॥ ४४ ॥
मान्यतेयं कृतज्ञत्वपोषिका वर्तते दृढम् ।
प्रतिकर्तुं ददात्येषा सर्वेभ्योऽवसरं सदा ॥ ४५ ॥
आधारमिममाश्रित्य सद्भावो जाग्रतस्तु यः ।
लोकमंगलकार्येषु चोपयुक्तुं स शक्यते ॥ ४६ ॥
श्राद्धे तत्राऽन्नपिण्डं तु तर्पणे चामृतं तथा ।
दीयतेन्नं साधनानां श्रमदानस्य चामृतम् ॥ ४७ ॥
प्रतीकत्वमिहायातं श्राद्धे यद्दीयते च तत् ।
तस्यापि माध्यमं नूनं तदेवात्र तु विद्यते ॥ ४८ ॥
दानकृत्येभ्य एवात्र निश्चितं यत्तु पूर्वतः ।
यज्ञार्थाय तथा तस्मै विपद्वारणहेतवे ॥ ४९ ॥

टीका—पितरों और संतति के बीच संबंध बना रहता है। स्वजनों के प्रति संपर्क भी रहता है। अस्तु, उन दिवंगत संबंधियों के प्रति स्नेह, सद्भाव, सहयोग प्रदर्शित करने का द्वार खुला रहता है। उनके किए हुए उपकारों का बदला चुकाने का भी इस मान्यता के आधार पर अवसर मिलता रहता है। दिवंगतों के प्रति श्रद्धा-सद्भावना व्यक्त करने का उपचार श्राद्धतर्पण है। माना गया है कि इस आधार पर स्वर्गीय स्वजनों की श्रद्धायुक्त सहायता की जा सकती है। यह मान्यता-

कृतज्ञता की दृढ़ पोषक है। प्रत्युत्तर के लिए अवसर प्रदान करती है, साथ ही इस आधार पर जाग्रत हुई सद्भावना का उपयोग लोक-मंगल के सत्प्रयोजनों में बन पड़ता है। श्राद्ध में जो दिया गया है, उसका माध्यम भी वही है, जो प्रत्येक दानकृत्यों के लिए निर्धारित है 'यज्ञर्थाय' और 'विपद्वारणाय'॥ ४०-४९ ॥

सदुद्देश्यसुपूर्त्यर्थं दानमेतत्तु दीयते ।
सार्थक्यं सत्प्रवृत्तेस्तु वर्द्धनं तस्य चामृतम्॥ ५० ॥
याति संपन्नतां श्राद्धं नैव सामर्थ्यसंयुतान्।
भोजयित्वा नरान् वंशवेषयोरेव निश्चितान्॥ ५१ ॥
दत्वा तेभ्यो धनं वाऽपि संति ते त्वधिकारिणः।
वस्तुतः सच्चरित्रा ये विशालहृदया अपि॥ ५२ ॥
विपद्ग्रस्ताश्च ये संति तथाशक्ताः स्वतश्च ये।
प्रतिग्रहस्य ग्रहीतुं नरा तेऽधिकृता उत॥ ५३ ॥
समर्पिताः समाजस्य सेवार्थं ये सदैव च।
संपदाऽऽजीविकाचापि येषां नैवात्मनः क्वचित्॥ ५३ ॥
नरा एतादृशा एवं उच्यंते साधुब्राह्मणाः।
प्राप्तुं दानमिमे मर्त्या अधिकारिणो मताः॥ ५५ ॥
वस्तुतो दानमेतत्तु सत्प्रयोजनहेतवे।
प्रामाणिकाय तन्त्राय दातुमेवात्र युज्यते॥ ५६ ॥
अन्यथा हानिदं श्राद्धं वैपरीत्येन जायते।
तन्निमित्तं कृतं यत्तु शुभकर्मतदेव चेत्॥ ५७ ॥
कुपात्रकरे यातं स्यादवाञ्छितविधौ गतम्।
पितृणां दुःखदं तेषां भवेद् येषां कृते कृतम्॥ ५८ ॥

टीका—दान सदुदेद्श्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है। उसकी सार्थकता सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन में मानी गई है। अस्तु, श्राद्ध-प्रक्रिया किसी वंश या वेश के समर्थ मनुष्यों को व्यर्थ ही भोजन कराने, पैसा देने से संपन्न नहीं हो सकती। वे ही व्यक्ति दान के अधिकारी हैं, जो सच्चरित्र, विशाल हृदय हों, विपत्ति में फँसे हों और अपने पैरों खड़े हो सकने में असमर्थ हों। अथवा उनको निर्वाह लेने का अधिकार है, जो सर्वतोभावेन समाज सेवा के लिए समर्पित है। जिनके पास अपनी कोई संपदा या आजीविका नहीं है, ऐसे ही लोग साधु-ब्राह्मण कहलाते हैं। मात्र ऐसों को ही व्यक्तिगत रूप से दान लेने का अधिकार है। वस्तुतः दान तो सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक तंत्र के हाथों ही सौंपा जाना चाहिए। अन्यथा श्राद्ध पितरों के लिए उलटा हानिकारक होता है। उनके निमित्त किया हुआ शुभकर्म यदि कुपात्र हाथों या अवांछनीय कृत्यों में नियोजित हो तो उन पितरों को दुःख होना स्वाभाविक है, जिनके लिए वह किया गया॥ ५०-५८॥

पूर्वजोपार्जितं वित्तं समर्था संततिः स्वतः।
प्रतिदद्यादलं तेषां वर्द्धितुं पुण्यसंपदाम्॥ ५९॥
इयमेव च शालीना विद्यते च परंपरा।
शुभा प्रत्युपकारस्य येनात्मा संप्रसीदति॥ ६०॥
पूर्वजैरनुदानं यद्दत्तं यश्च कृतः स्वयम्।
सहयोगश्च देयं तत्पूर्वजेभ्यो द्वयं त्विह॥ ६१॥
वार्धक्ये च सुपात्रं या संततिः सा तु सेवया।
अभिभावकवृद्धानां सहयोगेन चेच्छति॥ ६२॥
आनृण्यमात्मनोऽतश्च स्वर्गस्थानां कृते नरः।
दानपुण्यादिकार्यैश्च प्रति यच्छति संततम्॥ ६३॥

आनृण्याऽवसरोऽनेन लभ्यते त्वन्यथा तु तत्।
भविष्यज्जन्मसु स्याच्च भारवाहितयाऽर्पितुम्॥ ६४॥
अनुदानं संततिश्च प्रदत्तमभिभावकैः।
गृह्णीयादसमर्थस्तु न सामर्थ्ये समागते॥ ६५॥

टीका—पूर्वजों का उपार्जित धन, समर्थ संतान उन्हीं की पुण्य-संपदा बढ़ाने के लिए लौटा दे। प्रत्युपकार की यही शालीन परंपरा है। इसी से आत्मा प्रसन्नता व तृप्ति प्राप्त करती है। जीवित पूर्वजों को उनके किए हुए सहयोग एवं दिए हुए अनुदान को वापस किया जाना चाहिए। वृद्धावस्था में सुपात्र संतानें अपने अभिभावकों की सेवा-सहायता करके उऋण होने का प्रयास करती हैं। स्वर्गवास होने पर उसे उनके निमित्त पुण्यकार्य करके वापस लौटाती हैं। उससे भी उऋण होने का अवसर मिलता है। न लौटाने पर वह ऋण अगले जन्मों में भार ढो-ढोकर चुकाना होता है। संतान को अभिभावकों के अनुदान तभी तक लेने चाहिए, जब तक समर्थ न हो॥ ५९-६५॥

इयमेव तु श्राद्धस्य विद्यते तु परंपरा।
व्यक्तानि साधनान्यत्र प्रतिदीयंत एव तु॥ ६६॥
यत्प्राप्तं दीयते तच्च श्रद्धासद्भावकारणात्।
अतोऽतिरिक्तमप्यत्र संभवं यद् भवेदपि॥ ६७॥
लोकमंगलकृत्यं तत्कर्त्तव्यमित्त्थमेव च।
श्रमदानं साधनानां दानैः सह नियुज्यताम्॥ ६८॥
तर्पणं श्रमदानं च स्वेदबिन्दुप्रतीकताम्।
धत्तः शिक्षाभिवृद्धौ सुव्यवस्थायां तथैव च॥ ६९॥
वृक्षारोपणकार्ये च स्वच्छतायामपीदृशम्।
विविधेषु हि कृत्येषु श्रमो योक्तव्य एव च॥ ७०॥

तर्पणं चेदमेवास्ति लोकचित्तपरिष्कृतौ।
धनार्पणं भवेच्छ्राद्धमिदमेव च संततेः॥ ७१॥
पितृनुदिद्श्य कर्त्तव्यं यदस्ति तत्स्मृतिः शुभा।
श्राद्धतर्पणकार्येण कार्यते लोक उच्यते॥ ७२॥

टीका—यही श्राद्ध परंपरा है। इसमें छोड़े हुए साधन लौटाए जाते हैं। जो लिया था, वह वापस किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी अपनी श्रद्धा-सद्भावना की पहल करने के निमित्त जो बन पड़े, लोक-मंगल के शुभकृत्य करते रहना चाहिए। इस हेतु न केवल साधनों का दान हो, वरन श्रमदान भी नियोजित रखा जाए। तर्पण-श्रमदान-स्वेद बिंदुओं का प्रतीक है। वृक्षारोपण, शिक्षा-संवर्द्धन, स्वच्छता, सुव्यवस्था जैसे कृत्यों में श्रम किया जाए यह तर्पण हुआ। लोक-मानस के परिष्कार में धन लगाया जाए यह श्राद्ध कहलाया। संतान का पितरों के प्रति जो कर्त्तव्य है, उसका स्मरण श्राद्धतर्पण की प्रतीक, परिचर्या द्वारा कराया जाता है॥ ६६-७२॥

श्रद्धाभिव्यक्तितृप्तास्ते पितरोऽपि परोक्षतः।
उच्यते कुर्वते नृणां कुलस्थानां सहायताम्॥ ७३॥
निराशा ये समुद्विग्नाः खिन्ना रुष्टास्तथैव च।
असंतुष्टाः कुलस्यैवाऽहितं तेन भवत्यलम्॥ ७४॥
दृष्ट्याऽनिवार्यैषा श्राद्धस्यात्रोपयोगिता।
सत्कर्मनिरता या च संततिस्तस्य कर्मणाम्॥ ७५॥
एकोंऽशः प्राप्यते तस्य पूर्वजैरपि निश्चितम्।
संतुष्टाः सुखिनस्ते च निवसंति ददत्यपि॥ ७६॥
अंशदानं पिंडदानं प्राप्य चाशिषमुत्तमम्।
कुकर्मणा च पापेन जायते पितृ-दुर्गतिः॥ ७७॥

पुण्यानामिव पापानां भागिनस्ते भवन्त्यपि।
दायित्वं सृजनस्यात्र प्रत्येकं भजते नरः॥ ७८॥

टीका—कहा जाता है कि श्रद्धाभिव्यक्ति से तृप्त हुए पितर अपने वंशधरों की परोक्ष सहायताएँ करते रहते हैं और जो निराश-उद्विग्न हैं, वे खिन्न, रुष्ट एवं असंतुष्ट रहते हैं। उनका वह असंतोष परिवार का अहित करता है। इस दृष्टि से भी श्राद्ध की उपयोगिता आवश्यकता मानी गई है। सत्कर्मरत संतति के शुभकर्मों का एक भाग पूर्वजों को मिलता है। इसीलिए वे संतुष्ट-सुखी रहते हैं और पिंडदान-अंशदान पाकर मनभावन आशीर्वाद देते हैं। इसी प्रकार कुकर्मी संतान के पाप कर्मों से उनके उत्पादनकर्त्ता पूर्वजों की दुर्गति भी होती है, वे पुण्य की तरह पाप के भी भागीदार बनते हैं। सृजनकृत्यों का उत्तरदायित्व हर किसी को ओढ़ना पड़ता है॥ ७३-७८॥

पूर्णतश्च समानौ स्तः पुत्रः पुत्री च निश्चितम्।
कर्त्तव्यान्यधिकाराश्च समत्वेन मता इह॥ ७९॥
श्राद्धतर्पणकर्त्तव्यविधौ तत्र द्वयोरपि।
उत्साहेन समानेन भवितव्यं सदैव च॥ ८०॥
पित्रोः पितामहस्याथ तत्र मातामहस्य च।
केवलानां न तच्छ्राद्धं भवत्यपि तु स्वर्गिणाम्॥ ८१॥
सर्वेषां स्वजनानां तद् भवितुं युज्यते ध्रुवम्।
संबंधे केऽपि ते वास्युर्नात्रकश्चिद् व्यतिक्रमः॥ ८२॥
कनिष्ठाः कुर्वते तत्र ज्येष्ठानां च यथैव तु।
श्राद्धं तथा कनिष्ठानां कर्तुं ज्येष्ठा अपि क्षमाः॥ ८३॥
क्षेत्रे त्वात्मन आहुर्न बुधास्त्वन्तर यत्र ते।
तत्र ज्येष्ठकनिष्ठत्वे शरीरस्थमिदं यतः॥ ८४॥

ऋषीणां देवतानां च गुरूणामुपकारिणाम्।
महामानवनाम्नां च प्राप्तुमानृण्यमुत्तमम्॥ ८५॥
श्राद्धकर्मविधातव्यं कनिष्ठानामपि स्वयम्।
स्नेहसद्भाववात्सल्यं तत्र बोधयितुं महत्॥ ८६॥
यथा जन्मोत्सवस्तत्र विवाहोत्सव एव वा।
तथा वार्षिकश्राद्धं तत्कर्तुमत्र च युज्यते॥ ८७॥
आत्मनोऽमरतायाश्च सिद्धांतोऽनेन पुष्यते।
परलोकस्य लोकस्य मध्ये च सघनस्तु सः॥ ८८॥
संबंधः सततं तिष्ठन् परिवारविशालताम्।
कुरुतेऽक्षुण्णरूपां तां ब्रह्माण्डपरिशायिनीम्॥ ८९॥

टीका—कन्या और पुत्र समान हैं। दोनों के ही समान कर्त्तव्य और समान अधिकार हैं। इसलिए श्राद्धतर्पण करने में दोनों का ही समान उत्साह होना चाहिए। श्राद्धमात्र अपने माता-पिता, बाबा-नाना आदि का ही नहीं होता, उन सभी स्वजनों का हो सकता है, जो दिवंगत हो गए, रिश्ते में वे कुछ भी क्यों न हों, इससे कुछ अंतर नहीं आता। छोटे-बड़ों का श्राद्ध जिस प्रकार करते हैं, उसी प्रकार बड़े छोटों का भी कर सकते हैं। आत्मा के क्षेत्र में छोटे-बड़े का अंतर नहीं रहता। वह तो शरीर के साथ जुड़ा हुआ है। गुरुजनों, महामानवों, ऋषि, देवताओं अथवा अन्य उपकारी जनों से ऋणमुक्त होने के लिए उनका श्राद्ध करना चाहिए। छोटों का उनके प्रति स्नेह, सद्भाव, वात्सल्य प्रकट करने के लिए जन्मोत्सवों, विवाहोत्सवों की तरह वार्षिक श्राद्ध भी हो सकता है। इससे आत्मा की अमरता को बल मिलता है और लोक-परलोक के बीच सघन संबंध बना रहने से परिवार की विशालता अक्षुण्ण बनी रहती है तथा समस्त ब्रह्मांड एक परिवार बन जाता है॥ ७९-८९॥

आत्मनोऽमरतां तत्र मरणोत्तरजीवने ।
विद्यमानं विधिं चापि स्वजनोत्तरदायिताम्॥ १०॥
विस्तृतं तत्समाकर्ण्य सत्रे संस्कृतिवाहिनि।
संगता मुदिताः सर्वे भृशं जिज्ञासवस्ततः ॥ ११॥
प्रतिपादनमेतच्च श्रोतृभिः संगतैः समैः।
तत्र चाद्यतनं दिव्यं महत्त्वान्वितमामतम् ॥ १२॥
उपलब्धौ च सन्तोषं हर्षमुत्तममेव ते।
उद्गिरन्तोऽगमन् सर्वे श्रुत्वा घोषं समाप्तिकम्॥ १३॥

टीका—आत्मा की अमरता और मरणोत्तर जीवन की विधि-व्यवस्था तथा स्वजन-संबंधियों की जिम्मेदारी के संबंध में सुविस्तृत विवेचन सुनकर संस्कृति सत्र में सम्मिलित हुए सभी जिज्ञासुजन बहुत प्रसन्न हुए। आज के प्रतिपादन को भी श्रवणकर्त्ताओं ने गत दिवसों जैसा ही महत्त्वपूर्ण माना और इस उपलब्धि पर हर्ष-संतोष प्रकट करते हुए समापन घोष होने पर शांतिपूर्वक विदा हो गए॥ १०-१३॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन, युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते 'मरणोत्तरजीवने' इति प्रकरणो नाम

॥ पञ्चमोऽध्यायः॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

आस्था-संकट प्रकरण

अभूत् सत्रस्य षष्ठं च दिनमद्य श्रुतं जनैः।
जिज्ञासुभिः कथं देवसंस्कृतिर्भारतोदिता॥ १॥
समस्तेऽपि तु संसारे ज्ञानालोकं व्यधात् तथा।
प्रकाशयति संपूर्णं विश्वं दिनकरो यथा॥ २॥
मर्त्ये देवत्वभाविन्यां धरित्र्यां स्वर्गसंस्थितेः।
कारिण्या गौरवं लोकैर्विभूतेर्ज्ञातमुत्तमम्॥ ३॥
तथ्यमेतच्च विज्ञातुं संदेहो नैव कस्यचित्।
अवशिष्टो यदन्येषां प्राणिनां तुलनाविधौ॥ ४॥
अनेकदृष्टिभिर्हीनो मनुष्यः कथमेष तु।
सृष्टेर्मुकुटरत्नत्वं सहसैव गतो महान्॥ ५॥

टीका—आज सत्र का छठा दिन था। देव संस्कृति ने भारतभूमि मे उदित होकर समस्त संसार में किस प्रकार दिनकर जैसा प्रकाश फैलाया, यह विवरण सभी जिज्ञासुओं ने ध्यानपूर्वक सुना। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण करने वाली इस विभूति की गरिमा को उन्होंने गंभीरतापूर्वक समझा। किसी को इस तथ्य को समझने में संदेह न रहा कि अन्य प्राणियों की तुलना में अनेक दृष्टियों से गए-गुजरे मनुष्य को किस कारण सृष्टि का मुकुटमणि बनने का अवसर मिला॥ १-५॥

बुद्धिवैशिष्ट्यहेतोर्वा शरीररचनाविधेः।
कारणान्नैव स त्वत्र सर्वायाः प्रगतेरयम्॥ ६॥

सुयोगस्त्वस्य चायात आदर्शचरितग्रहात्।
उत्कृष्टचिंतनाच्चैव मेधावित्वविधेरलम् ॥ ७ ॥
मनुष्याणां गरिम्णस्ता अनुरूपाश्च भावनाः।
मान्यता निःसृता देवसंस्कृतेरेव शोभनाः ॥ ८ ॥
अतः सा हि मनुष्याणां कृते भगवतो ध्रुवम्।
मन्यतामनुदानं तदिद्व्यं मानवमंगलम् ॥ ९ ॥
विभिन्नेषु हि देशेषु जातिष्वपि च दृश्यते।
यदौत्कृष्ट्यं स्वरूपाच्च भिन्नस्यास्ति हिमालयः ॥ १० ॥
उद्गमस्थलमेषोऽत्र धर्मो यत्र स उद्गतः।
भारतीयस्तथा नद्यो निर्गता वारिपूरिताः ॥ ११ ॥

टीका—मात्र मस्तिष्क संबंधी विशेषता एवं शरीर सरंचना के कारण नहीं, मनुष्य को समग्र प्रगति का सुयोग उत्कृष्ट चिंतन, मेधाविता और आदर्श चरित्र अपनाने के कारण मिला है। मानवी गरिमा के अनुरूप मान्यताएँ और भावनाएँ देव संस्कृति से ही निस्सृत हुई हैं। इसलिए उसे समस्त मनुष्य जाति के लिए भगवान का कल्याणकारी दिव्य अनुदान ही माना जा सकता है। विभिन्न देशों और जातियों में जो उत्कृष्टता दृष्टिगोचर होती है, उसका स्वरूप भिन्न दीखते हुए भी उनका मूल उद्गम भारतीय धर्म का हिमालय ही है। न सूखने वाली सरिताएँ उसी से निकलीं और विभिन्न दिशाओं में गतिमान हुई हैं ॥ ६-११ ॥

तथ्यमेतद् विदित्वाऽस्य चित्ते शंकोदिता नवा।
कणादस्य महर्षेः सा जिज्ञासोर्मंगलोन्मुखा ॥ १२ ॥
यद्येवं तर्हि जायंते विग्रहा धर्मकारणात्।
कथं संस्कृतयो भिन्ना युद्ध्यंते च परस्परम् ॥ १३ ॥

धर्ममाश्रित्य जायंते पाखंडेन सहैव च।
अनाचाराः कथं भूमौ तीव्रा लज्जाकरा नृणाम्॥ १४॥
मनसः स्वस्य संदेहो बद्धहस्तेन तेन च।
उक्तो महर्षिणा तत्र सोऽग्रे कात्यायनस्य तु॥ १५॥
शंकां समाहितां कर्तुमनुरोधं व्यधादपि।
सत्रसञ्चालकस्यास्य मुनेः कात्यायनस्य सः॥ १६॥

टीका—इस तथ्य को समझने के उपरांत जिज्ञासु ऋषिवर कणाद के मन में मंगलोन्मुख एक शंका उत्पन्न हुई कि यदि ऐसा ही है तो फिर इन दिनों धर्म के नाम पर इतने विग्रह क्यों दृष्टिगोचर होते हैं? संस्कृतियाँ आपस में टकराती क्यों हैं? धर्म के नाम पर मानवमात्र के लिए लज्जास्पद पाखंड और अनाचार क्यों होते हैं? अपने मन का संदेह उन्होंने करबद्ध होकर महामुनि कात्यायन के सम्मुख व्यक्त किया और शंका के समाधान का अनुरोध सत्र-संचालक ऋषि कात्यायन से किया। ॥ १२-१६॥

कात्यायन उवाच—

सौम्य कालांतरे नूनमुत्तमान्यपि चान्ततः।
वस्तूनि विकृतेर्हेतोर्जसजीर्णतया पुनः॥ १७॥
गच्छन्त्यनुपयोगित्वं प्राणिवृक्षगुहा इव।
अखाद्यतां यथा यांति द्वितीयेऽह्नि तु भोजनम्॥ १८॥
क्रमस्य नियतेरेष उपचारस्तु विद्यते।
अस्य संततमेव स्याज्जीर्णोद्धारस्तु कालिकः॥ १९॥
शरीरस्याथ वस्त्राणां नित्यं प्रक्षालनं मतम्।
कक्षाणां शोधनं चात्र पात्रसंमार्जनं तथा॥ २०॥

शस्त्रेषु धारा निर्मेया भवत्येव निरंतरम्।
एवं रीतिषु जायंते क्रमाद् विकृतयश्च ताः॥ २१॥

टीका—महर्षि कात्यायन ने कहा—सौम्य! कालांतर में उत्तम वस्तुएँ भी विकृतियों के कारण जरा-जीर्ण होकर अनुपयोगी बन जाती हैं। प्राणी, भवन, वृक्ष सभी को वृद्धता आती है। भोजन अगले दिन अखाद्य बन जाता है। इस नियतिक्रम का उपचार, समय-समय पर जीर्णोद्धार करते रहना है। शरीर, वस्त्र आदि को नित्य धोना पड़ता है। कमरे को बुहारना और बरतन को माँजना पड़ता है। शस्त्रों पर धार रखनी पड़ती है। इसी प्रकार प्रथा-प्रचलनों में भी विकृतियाँ घुस पड़ती हैं॥ १७-२१॥

कालानुरूपं सर्वत्र व्यवस्था शोध्यते तथा।
परिवर्तयितुं चापि बाध्यता भवति स्वतः॥ २२॥
कारणं चेदमेवास्ति परिवर्तनतामिह।
संविधानानि गच्छंति कालिकानि सदैव तु॥ २३॥
ऋषयोऽपि स्थितीर्दृष्ट्वा स्मृतीः स्वा व्यधुरुत्तमाः।
अतएव तु भेदोऽपि स्मृतिष्वत्र विलोक्यते॥ २४॥
पूर्वेषां ग्रंथकर्तॄणां नापमानमिदं स्मृतम्।
भूषणानां च वस्त्राणां जीर्णानां नवतात्विदम्॥ २५॥

टीका—समय के साथ व्यवस्था भी बदलनी और सुधारनी पड़ती है। यही कारण है कि समय के अनुरूप विधान बदलते रहते हैं। ऋषियों ने बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप स्मृतियाँ बदली हैं, इसी से स्मृतियों में कहीं-कहीं अंतर दृष्टिगोचर होता है। यह पूर्व निर्धारणकर्त्ताओं का अपमान नहीं, वरन पुराने वस्त्र-आभूषण के स्थान पर नया शृंगार करने जैसा उपयोगी है॥ २२-२५॥

परिवर्तनमायाते समये जीर्णतोदिता।
यदि विकृतयस्तीव्रा वर्द्धितास्तर्हि तद्ग्रहः ॥ २६ ॥
सर्वथाऽनुचितो मर्त्याः संति ये तु दुराग्रहाः।
पुराणं साधु नव्यं च दूषितं सर्वमित्यहो॥ २७॥
दुराग्रहिण एते च पारंपर्यानुधाविनः।
तद्गृह्णंति मृतान् पुत्रान् यथा वानर्य आतुराः ॥ २८ ॥

टीका—समय बदल जाने और जीर्णता जन्य विकृतियाँ बढ़ जाने पर भी उन्हें अपनाए रहने का आग्रह अनुचित है। दुराग्रही लोग 'जो पुराना सो अच्छा, जो नया सो बुरा' की दुराग्रही दृष्टि अपना लेते हैं और जो कुछ चल रहा है, उसे परंपरा कहकर अनुपयोगी को भी, मरे बच्चे को छाती से लगाए फिरने वाली बंदरी का उदाहरण बनते हैं॥ २६-२८॥

दुग्धेऽत्र मक्षिकापातो भवेच्चेत्तदपेयताम्।
गच्छति प्राय एवं हि विकृतेर्विकृता इमे॥ २९॥
धार्मिकाः संप्रदायास्तु युध्यंतेऽत्र परस्परम्।
विकृतीरपि चेदत्र वदन्त्येव परंपराः॥ ३०॥
दुराग्रहा गृहीतास्ता यान्त्यत्राधमतां प्रथाः।
उत्थापयति मर्त्यं तन्मूलं धर्मस्य संस्कृतेः॥ ३१॥
अग्रगं तं करोत्येवं सार्वभौमदृशा तथा।
उन्नतं सुखिनं कर्तुं सहयोगं करोत्यलम्॥ ३२॥

टीका—दूध में मक्खी पड़ जाने पर वह अखाद्य बन जाता है। इसी प्रकार इन दिनों प्रचलित धर्मसंप्रदाय भी परस्पर लड़ते-टकराते देखे जाते हैं। उनमें घुसी हुई विकृतियाँ जब परंपरा कहीं और

दुराग्रहपूर्वक अपनाई जाती हैं तो उत्तम भी अधम बन जाता है। अन्यथा धर्म और संस्कृति का मूलस्वरूप मनुष्य का ऊँचा ही उठाता है तथा उसे आगे बढ़ाता और हर दृष्टि से सुखी-समुन्नत बनाने में सहायता करता है ॥ २९-३२ ॥

संस्कृतेर्नैव दोषोऽस्ति, पाखंडस्य तथैव च।
अनौचित्यस्य दोषोऽयं यस्तां दूषयति स्वतः ॥ ३३ ॥
परिमार्जनमेतस्य भवेदेव निरंतरम् ।
परिशोधनमप्यस्यावाञ्छनीयस्य कर्मणः ॥ ३४ ॥
कालावश्यकतां वीक्ष्य निर्धारणविधिश्चलेत्।
अन्यथा धर्मतामेति पाखंडस्य परंपरा ॥ ३५ ॥
दुराचारिण एतेऽत्र तदाश्रित्य च कुर्वते।
भ्रांतान्साधारणान्मर्त्यान् स्वार्थं संसाधयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

टीका—यह दोष संस्कृति का नहीं उसमें किसी कारण घुस पड़ने वाले पाखंड अनौचित्य का है, जो उसे दूषित कर देते हैं। इसका परिमार्जन निरंतर होते रहना चाहिए। प्रचलित अवांछनीयता का परिशोधन और सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप निर्धारण की प्रक्रिया निरंतर चलती रहनी चाहिए। अन्यथा पाखंड ही धर्म कहलाने लगेगा और उसकी आड़ में दुराचारियों को भ्रम फैलाने, अनुचित स्वार्थ साधने का अवसर मिलता रहेगा ॥ ३३-३६ ॥

इमा विकृतयो नैव केवलं धर्मसंस्कृतौ।
प्रविशंति परं सर्वा नैतिके बौद्धिकेऽथ च ॥ ३७ ॥
क्षेत्रे सामाजिकेऽप्यत्र प्रविशंति पुनः पुनः।
आहारेऽथ विहारे च व्यवहारे तथैव च ॥ ३८ ॥

धनस्योपार्जने भोगे व्यवसाये जना इह।
अवाञ्छनीयतां यांति विलासाकर्षणोदिताम्॥ ३९॥
मदसेवनजादीनि व्यसनान्युद्भवन्त्यपि।
अस्मादेव हि हेतोश्च स्वस्मिन् देशेऽपि सन्त्यहो॥ ४०॥
भिक्षाया व्यवसायोऽयं जात्याहंकारजोच्चता।
अवगुंठनता सेयं विवाहेऽपव्ययो महान्॥ ४१॥
पशूनां बलिदानं च मृतभोजो बृहत्तरः।
बहुविधा रीतयो लोके चलिता एवमेव तु॥ ४२॥
बहुप्रजननस्यात्र पश्यंतः फलमत्यगम्।
मिथ्या प्रदर्शनेष्वेते व्ययं च कुर्वते भृशम्॥ ४३॥

टीका—यह विकृतियाँ न केवल धर्म-संस्कृति में घुसती रहती हैं, वरन नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक क्षेत्रों में भी उनका प्रवेश होता रहता है। लोग आहार-विहार, व्यवहार-व्यवसाय, उपार्जन-उपयोग जैसे दैनिक प्रयोजनों में भी विलास-आकर्षण के नाम पर अवांछनीयता की आदत डाल लेते हैं। नशेबाजी जैसे अनेक दुर्व्यसन इसी कारण पनपे हैं। अपने देश में भिक्षा-व्यवसाय, जातिगत ऊँच-नीच, पर्दा प्रथा विवाहों में अपव्यय, पशुबलि, बड़े-बड़े मृतक भोज जैसे अनेक अनाचारों का प्रचलन चल पड़ा है। बहु प्रजनन के दुष्परिणामों की ओर से आँखें बंद किए रहते हैं। फैशन और ठाट-बाट के निमित्त ढेरों पैसा खरच करते हैं॥ ३७-४३॥

ऐतेषु दिवसेष्वत्र समायात्यनिशं भृशम्।
व्यक्तौ तथा समाजेऽपि दारिद्र्यस्य तथैव च॥ ४४॥
अस्वास्थ्यस्यासुरक्षाया विपत्तिर्येन वर्द्धते।
मनोमालिन्यपूर्णः स कलहस्तु गृहे गृहे॥ ४५॥

जने जने च वर्द्धते इहासंतोष आशु सः।
अविश्वासस्तथा चैषोऽसहयोगविधिः स्वतः॥ ४६॥

टीका—इन दिनों व्यक्ति और समाज पर अस्वस्थता, असुरक्षा, दरिद्रता की विपत्ति लदती जा रही है। घर-परिवारों में कलह, मनोमालिन्य बढ़ रहा है। जनसमुदाय के मध्य असहयोग, असंतोष, अविश्वास असाधारण रूप से बढ़ रहा है॥ ४४-४६॥

संकीर्णस्वार्थबुद्ध्या च विलासस्याथवा पुनः।
प्रमादस्य प्रवृत्त्या वा मदसेवनतोऽथवा॥ ४७॥
सारहीनमभूत्सर्वं जनजीवनमुत्तमम्।
कारणं केवलं चैता दुष्प्रवृत्तय एव तु॥ ४८॥
अपराधिप्रवृत्तीनां प्रवृद्धानां तु कारणात्।
प्रत्येकं पुरुषो नूनमातंकित इह स्वयम्॥ ४९॥
विनाशसंकटश्चात्र समाजे समुपस्थितः।
निर्मीयते स्वतोऽज्ञातं वातावरणमीदृशम्॥ ५०।
केवलं सभ्यताया न संचितायाः परं महान्।
संकटो मानवास्तित्वे दृश्यते समुपस्थितः॥ ५१॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता, विलासिता, नशा, प्रमाद की दुष्प्रवृत्तियों के कारण जनजीवन खोखला हुआ जा रहा है। बढ़ती हुई अपराधी प्रवृत्ति के कारण हर व्यक्ति आतंकित जैसा दीखता है। समूचे स्थान पर विनाश के संकट छाए हुए हैं। वातावरण ऐसा बन रहा है, मानो संचित सभ्यता का ही नहीं, मानवी अस्तित्व के लिए भी संकट खड़ा हो गया है॥ ४७-५१॥

उत्तमोद्‌देश्यहेतोर्याः कदाचिद्रीतयः शुभाः।
प्रारब्धा भ्रांतिभिर्जाता अयोग्या विकृतिं गताः॥ ५२॥

दुराग्रहोऽथ मोहश्च नोचितोऽत्र मनागपि।
हिमाद्रिनिर्गता गंगा क्षारतां याति सिंधुगा॥५३॥
ततः सूर्येण वाष्पत्वं प्रापिता जलदायिता।
हिमतामधिगत्यैव शुद्धत्वं भजते स्थिरम्॥५४॥
संस्कृतेरपि संबंधे वार्तैषैव तु विद्यते।
सूक्ष्मद्रष्टार एतेऽत्र मुनयश्च मनीषिणः॥५५॥
जागरूकास्तु तिष्ठंति त्यक्तं सर्वदुराग्रहम्।
विवेकं जाग्रतं नृणां कुर्वंतो मान्यतासु च॥५६॥
परिवर्तनकं वातावरणं कुर्वते तथा।
अभियानं बृहन्मूलं दृढं सञ्चालयन्त्यपि॥५७॥

टीका—जो प्रथाएँ कभी उत्तम उद्देश्यों को लेकर विनिर्मित हुई थीं, वे ही भ्रांतियों और विकृतियों के मिलते चलने पर समयानुसार अनुपयुक्त बन जाती हैं। तब उनके प्रति दुराग्रही मोह अपनाना अनुचित है। हिमालय से निकलने वाली गंगा की धारा भी समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते खारी हो जाती है। तब उसे सूर्य भाप बनाकर बादल बनाता है। हिमालय में पहुँचकर वही बादल बरफ बन जाते हैं और उस परिवर्तन के कारण ही गंगा का शुद्धस्वरूप स्थिर रहता है। संस्कृति के संबंध में भी यही बात है। सूक्ष्मदर्शी मुनि-मनीषी इस पर्यवेक्षण के प्रति जागरूक रहते हैं, वे दुराग्रह के स्थान पर विवेक जगाते और जो उचित है, उसे अपनाने के लिए मान्यताओं में हेरफेर करने वाला दृढ़ एवं गहरी पकड़ वाले अभियान चलाते, वातावरण बनाते हैं॥५२-५७॥

अनौचित्यमिदानीं यद् व्याजाद् धर्मस्य संस्कृतेः।
जृम्भते कारणं तस्य केवलं यन्मनीषिभिः॥५८॥

संशोधनानि नैवात्र कालजानि कृतानि तु।
परिवर्तनजो रुद्धः प्रवाहो यदि जायते॥ ५९॥
वार्षिकं सलिलं गर्तमध्यस्थमिव विकृतिम्।
धर्मक्षेत्रे प्रयान्त्यन्धविश्वासैश्च दुराग्रहैः ॥ ६०॥

टीका—इन दिनों जो धर्म-संस्कृति के नाम पर अनौचित्य का बोल-बाला है, उसका कारण एक ही है कि मनीषियों ने सामयिक संशोधन का ध्यान नहीं रखा। सुधार परिवर्तन का प्रवाह रुक जाने से, वर्षा का शुद्ध जल किसी गड्ढे में अवरुद्ध पड़ा रहने पर सड़ने लगता है। ऐसी दुर्गति धर्मक्षेत्र में अंधविश्वास एवं दुराग्रह घुस पड़ने से भी होती है॥ ५८-६०॥

वैशिष्ट्यमिदमेवाभूत् सर्वदा देवसंस्कृतेः।
विवेकबुद्ध्ये श्रद्धाभावनायै परिष्कृतम्॥ ६१॥
सुदृढं च ददौ दिव्यमाधारमुभयोः कृते।
मानवी यत्र श्रद्धेयं विवेकेन सहैव च॥ ६२॥
तिष्ठेदाधारमाहुस्तमास्थाबिंदुमथापि च।
महामानवतां याति देवत्वं चास्थया नरः॥ ६३॥
आस्थाया विरहे तस्मिन् पशुता समुदेति हि।
अकाट्यं सत्यमेवैतद् वर्तते च महत्तमम्॥ ६४॥

टीका—देव संस्कृति की सदा यह विशेषता रही है कि उसने विवेक-बुद्धि तथा श्रद्धा-भावना दोनों पक्षों के लिए परिष्कृत और सुदृढ़ आधार दिए हैं। जिन पर मानवी श्रद्धा एवं विवेक दोनों टिक सकें, उन्हें आस्था के बिंदु या आधार कहते हैं। आस्था के सहारे ही मनुष्य मानव, महामानव और देवमानव बनता है। आस्था के अभाव में उसमें पाशविकता उभरने लगती है, यह एक अकाट्य महान सत्य है॥ ६१-६४॥

विज्ञानेन सहैवात्र बुद्धिवादोऽभिवर्द्धते ।
जर्जरा विकृता यास्तु संति लोके परंपरा ॥ ६५ ॥
अस्वीकृता विवेकेन ता न चान्याः समुत्थिताः ।
श्रद्धा तिष्ठंति नान्येषु सांस्कृतीं चेतनां बिना ॥ ६६ ॥
आस्थायाञ्च नवान् बिन्दूनप्राप्याऽयमभून्नरः ।
आस्थाहीनस्ततो वृद्धिं तदसंतुलनं गतम् ॥ ६७ ॥

टीका—विज्ञान के साथ बुद्धिवाद बढ़ा है। जर्जर-विकृत परंपराओं को विवेक ने अस्वीकार कर दिया है। नए आधार बने नहीं, कुछ बने तो उनमें सांस्कृतिक चेतना की झलक न मिलने से श्रद्धा उन पर टिकती नहीं। आस्था के नए आयाम न मिल सकने से मनुष्य आस्थाहीन हो गया। उसी के कारण सारा असंतुलन बढ़ रहा है ॥ ६५-६७ ॥

आस्थाहीनसमाजस्य सद्गतिर्नैव संभवा ।
ईश्वरे परलोके च धर्मे कर्मफलेऽपि वा ॥ ६८ ॥
आत्मन्यपि न चैवास्था नैतिके कर्मणीह चेत् ।
अस्यां स्थितावकर्त्तव्यं कर्त्तव्यं नैव विद्यते ॥ ६९ ॥
स्वार्थे पशुत्व एवाऽपि नियंता नास्ति कश्चन ।
आत्मीयत्वं सदाचारं नीतिं प्रोत्साहयेच्च कः ॥ ७० ॥
अनास्था वर्द्धते यस्मात्क्रमात्तस्माद्धि निश्चितम् ।
आदर्शवादिता पूर्णं भ्रष्टतां याति सर्वतः ॥ ७१ ॥

टीका—आस्थाहीन समाज की सद्गति संभव नहीं। ईश्वर, धर्म, कर्मफल, परलोक आत्मा, नैतिकता किसी पर आस्था नहीं, ऐसे में न कुछ कर्त्तव्य है और न अकर्त्तव्य। स्वार्थ-पशुता पर अंकुश

लगाने वाला कोई नहीं। आत्मीयता, नीति-सदाचार को प्रोत्साहन कहाँ से मिले? जैसे-जैसे अनास्था बढ़ती है, आदर्शवादिता तहस-नहस होती जाती है॥ ६८-७१॥

आदर्शहीनं सिद्धांतहीनं यद्यच्च जीवनम्।
प्रवृत्तयः सापराधाः सविलासाः क्षणादिव॥ ७२॥
झञ्झावात इव प्रायो दृश्यंते वृद्धिमागताः।
अनास्था विद्यते नूनं लोके भीमतरोऽसुरः॥ ७३॥
रूपं किमपि नैवास्य स्थानं नैवाऽपि निश्चितम्।
प्रत्येकस्य जनस्यायं प्रविष्टश्चिन्तनेऽभितः॥ ७४॥

टीका—आदर्शहीन सिद्धांतहीन जीवन, विलासी और अपराधी प्रवृत्तियों को प्रायः आँधी तूफान की तरह बढ़ते देखा जा सकता है। अनास्था भीषणतम असुर है। इसका कोई रूप नहीं, कोई निश्चित स्थान नहीं। वह जन-जन के चिंतन में घुसा बैठा है॥ ७२-७४॥

विद्यमानेऽसुरे चास्मिन् नहि संतुलनस्य तु।
प्रयासाः सफलाः क्वापि संभवंति कदाचन॥ ७५॥
प्रयासास्ते च जायंते सिकताभीतिदुर्बलाः।
स्थूलैर्यत्नैर्न नष्टः स्याज्जनचैतन्यगोऽसुरः॥ ७६॥
प्रखरादर्शनिष्ठश्च प्रवाहो जनचिंतने।
तदर्थं कार्य आधारो देयो नव्यः क्षमश्च यः॥ ७७॥
एतदर्थं च विज्ञानं भौतिकं नोपचारताम्।
याति केवलमध्यात्मप्रयोगस्तु परिष्कृतः॥ ७८॥
महती चेद्दशानां तु विद्यते देवसंस्कृतौ।
उपचारप्रयोगानां क्षमता अतुला इह॥ ७९॥

टीका—इसके रहते संतुलन लाने के प्रयास सफल नहीं हो सकते। वे बालू की दीवार की तरह नाकाम होते रहते हैं। जनचेतना में घुस बैठे इस महाअसुर को स्थूल प्रयासों से नष्ट नहीं किया जा सकता। उसके लिए जन चिंतन में प्रखर आदर्शनिष्ठ प्रवाह पैदा करना होगा। आस्था के नए सशक्त आधार देने होंगे। इस उद्देश्य के लिए भौतिक विज्ञान नहीं, अध्यात्म विज्ञान का परिमार्जित प्रयोग ही एकमात्र उपचार है। देव संस्कृति में ऐसे महान उपचार प्रयोग करने की अद्वितीय क्षमता रही है॥ ७५-७९ ॥

मुनयो नूनमद्यैतत्स्वरूपं देवसंस्कृतेः ।
अस्तव्यस्तमिव प्रायो जातं तत्तुपुरातनम् ॥ ८० ॥
तत्राधुना जनैः सर्वैर्दृश्यते नैकरूपता ।
यथाऽन्धा हस्तिनः किञ्चिदंगं प्राप्य तथैव तम् ॥ ८१ ॥
निश्चिन्वन्ति तथा धर्मो जीर्णतायाश्च विकृतेः ।
विभाजितत्वहेतोश्चाऽनास्थया स उपेक्षितः ॥ ८२ ॥
विवेकिनो नरास्तेनासंतोषाक्रोशपूरिताः ।
दृश्यंतेऽत्र तथाप्यत्र किञ्चिच्चिन्त्यं न मन्यताम् ॥ ८३ ॥
दुर्गतिं वर्तमानां तु वारयिष्यति चान्ततः ।
महाकालः समग्रं च परिशोधितुमेव सः ॥ ८४ ॥
प्रज्ञाभियानमत्युग्रं चालयिष्यति ताः स्थितीः ।
विधास्यति स्वतो नूनं विपरीता बुधा ऋजूः ॥ ८५ ॥

टीका—महर्षि कात्यायन पुनः बोले—हे मननशील मुनिजनो! इन दिनों देव संस्कृति का पुरातनस्वरूप अस्त-व्यस्त हो गया है। उसकी एकरूपता नहीं रही। अंधे जिस प्रकार हाथी का जो अंग

हाथ की पकड़ में आता है, उसी आकार का उसे मान बैठते हैं। इन दिनों विभाजित, विकृत एवं जरा-जीर्ण स्थिति बन जाने के कारण ही धर्म के प्रति उपेक्षा, अनास्था बढ़ रही है और विचारशीलों में असंतोष- आक्रोश उभर रहा है। इतने पर भी चिंता जैसी कोई बात नहीं है। महाकाल वर्तमान दुर्गति का निवारण करेंगे। इस समग्र-परिशोधन के लिए प्रज्ञा-अभियान का तूफानी दौर आरंभ करेंगे। ऐसे प्रचंड परिवर्तन उलटी परिस्थितियों को उलटकर सीधी करते रहे हैं॥ ८०-८५॥

सत्रे स्थितैः समैरेव ज्ञाता जिज्ञासुभिः स्वतः।
धर्मव्याजेन जातास्ते परिणामा अधर्मजाः॥ ८६॥
सहैवात्र नियंतुश्च व्यवस्था शोधनोन्मुखी।
ज्ञाता सोपक्रमा नैषा चिरं स्थास्यति दुर्गतिः॥ ८७॥
विश्वस्तं तैरिदं भूयः परिवर्तनमन्ततः।
भविष्यति तथा भूयो वातावरणमुत्तमम्॥ ८८॥
आगंता निकटे काले तथा सत्ययुगे पुरा।
विभीषिकास्तदा नैव द्रक्ष्यंते भुवि कुत्रचित्॥ ८९॥

टीका—सत्र में उपस्थित जिज्ञासुओं ने धर्म के नाम पर प्रचलित अधर्म, आच्छादन के दुष्परिणामों को समझा। साथ ही नियंता की सुधार व्यवस्था का उपक्रम भी समझा। उन्हें विश्वास हो गया कि वर्तमान दुर्गति अधिक समय न रहेगी। परिवर्तन होगा और पुरातनकाल जैसा सतयुगी वातावरण निकट भविष्य में फिर वापस लौटेगा। तब पृथ्वी में कहीं भी ये विभीषिकाएँ नहीं दीखेंगी॥ ८६-८९॥

भविष्यत्युज्ज्वलं नृणामनया च शुभाशया।
मुखपद्मानि सर्वेषां विकासमगमंस्ततः॥ ९०॥

निराशा खिन्नता चैव गते दूरं क्षणात्ततः।
आश्वासनेन पूज्यस्य सत्राध्यक्षस्य सर्वतः॥ ११॥
सत्रं चाद्यतनं यातं समाप्तिं पूर्ववत्ततः।
वातावृतौ शुभायां च शांतिपाठेन तत्र तत्॥ १२॥
कृत्वा परस्परं सर्वे श्रोतारश्चाभिवंदनम्।
कुटीरान् स्वान् गता दिव्यसंदेशानंदिता अथ॥ १३॥

टीका—उज्ज्वल भविष्य की आशा से सभी के चेहरे कमल पुष्प जैसे खिलने लगे। खिन्नता और निराशा को सत्राध्यक्ष के आश्वासन ने दूर कर दिया। आज का सत्र गत दिवस की भाँति प्रसन्नता के वातावरण में समाप्त हुआ। शांति पाठ, अभिवंदन के उपरांत सभी अपने-अपने निवास-कुटीरों में चले गए। दिव्य संदेश से सभी आनंद अनुभव कर रहे थे॥ १०-१३॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृति खंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते 'आस्था-संकट' इति प्रकरणो नाम

॥ षष्ठोऽध्यायः॥

॥ अथ सप्तमोऽध्याय: ॥

प्रज्ञावतार प्रकरण

सत्रस्यान्त्यमभूदद्य दिनं जिज्ञासवः समे।
संतुष्टा मुनयो लब्धैर्विचारैस्ते मनीषिणः ॥ १ ॥
लब्धुं ततोऽधिकं चाद्य महत्त्वमहिता भृशम्।
विचारसंपदाकाले नियते ते समागताः ॥ २ ॥
प्रश्नकर्त्ता मुनिश्रेष्ठोऽगस्त्यः पप्रच्छ सादरम्।
लोककल्याणभावेन करुणः स महामनाः ॥ ३ ॥

टीका—आज सत्र का अंतिम दिन था। जिज्ञासु मुनि-मनीषियों को अब तक की उपलब्धियों पर बड़ा संतोष था। वे आज और भी अधिक महत्त्वपूर्ण विचारसंपदा उपलब्ध करने की आशा लेकर नियत समय पर उपस्थित हुए। प्रश्नकर्त्ता दयालु उदारात्मा ऋषि श्रेष्ठ अगस्त्य ने लोककल्याण भावना से पूछा— ॥ १-३ ॥

अगस्त्य उवाच—

देव ! विकृतयो यास्तु सामान्याच्च विपन्नताः।
भवत्येव समाधानं तासां साधुजनोद्भवम् ॥ ४ ॥
परं विभीषिका अत्र विषमास्ता अनेकशः।
समायांति तथा यासां समाधानं न दृश्यते ॥ ५ ॥
जायंते निष्फलाः सर्वे यत्नाः साधुजनैः कृताः।
विनाशो दृश्यते चाग्रे सर्वग्रासकरो महान् ॥ ६ ॥
परिस्थितीर्विलोक्याद्य तेन देव प्रतीयते।
खंडप्रलयकालः किं समायातो भंयकरः ॥ ७ ॥

टीका—अगस्त्य ने कहा—देव ! सामान्य विकृतियों और विपन्नताओं का निराकरण तो सुधारक महामानवों के प्रयत्नों से होते रहते हैं, परंतु कई बार ऐसी विषम विभीषिकाएँ आ उपस्थित होती हैं, जिनका कोई समाधान नहीं दीखता। सुधारकों के प्रयत्न विफल होने लगते हैं, और सर्वनाशी विनाश सामने खड़ा दीखता है। देव ! इन दिनों की परिस्थितियाँ देखकर लगता है, खंडप्रलय का भयंकर समय आ गया है ॥ ४-७ ॥

अनाचारैश्च मर्त्यानां रुष्टायाः प्रकृतेरिह।
कोपो वर्षति भिन्नेषु रूपेष्वेव निरंतरम्॥ ८॥
प्रातिकूलस्य चाऽस्यायं क्षुद्रस्तु पुरुषः कथम्।
प्रतिकर्तुं समर्थः स्यादल्पज्ञश्चाल्पशक्तिकः॥ ९॥
विज्ञानवरदानं स्वदुष्प्रवृत्तेस्तु कारणात्।
अभिशापं व्यधादेव सृष्टिनाशकरं परम्॥ १०॥
व्यक्तीनां च समाजस्य स्थितिष्वेतासु निश्चितम्।
विश्वस्याभूद् भविष्यत्तदन्धकारमयं ध्रुवम्॥ ११॥
देव संकट एषोऽत्र निर्गमिष्यति वा न वा।
महाप्रलयकालो वा समायातोऽस्त्यकालिकः॥ १२॥
सत्राध्यक्षस्त्रिकालज्ञश्चिंता-परतयाऽथ सः।
कात्यायन उवाचैवं हितं वाक्यं महामुनिः॥ १३॥

टीका—मानवी अनाचार से रुष्ट प्रकृति के अनेकानेक प्रकोप बरसने लगे हैं। इस प्रतिकूलता का सामना अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाला क्षुद्र मनुष्य किस प्रकार कर सकेगा। उसने तो विज्ञान के वरदान तक को अपनी दुष्प्रवृत्तियों के कारण सृष्टि विनाशक अभिशाप जैसा बनाकर रख दिया है। इन परिस्थितियों में व्यक्तियों का, समाज

का, विश्व का भविष्य अंधकारमय ही दीख पड़ता है। हे देव! बताएँ कि यह संकट टलेगा भी या नहीं? कहीं महाप्रलय का समय समीप तो नहीं आ गया। त्रिकालदर्शी सत्राध्यक्ष महामुनि कात्यायन भविष्य की चिंता से बोले॥ ८-१३॥

कात्यायन उवाच—

चित्रितात्वधुनैवात्र पूर्वतो या परिस्थितिः।
महाभाग! न संदेहस्तस्यगंभीरता-विधौ ॥१४॥
तथाप्यस्माभिरेषोऽत्र कार्यो विश्वास उत्तमः।
स्रष्टेमां तु धरित्रीं स्वां व्यधात्सर्वोत्तमां कृतिः॥१५॥
मनुष्यरचना सेयं विहिता ब्रह्मणेदृशी।
दृश्यमानं स्वरूपं स स्रष्टुरित्येव मन्यताम् ॥१६॥
नियंता सहते नैव विनाशं कुत्रचित्प्रभुः ।
ईदृश्याः शोभनायाः स सृष्टे सृष्टिकरः स्वयम्॥१७॥

टीका—कात्यायन ने कहा—हे महाभाग! अभी परिस्थितियों का जो चित्रण किया गया है, उनकी गंभीरता में तनिक भी संदेह नहीं है, फिर भी हम सबको यह विश्वास करना चाहिए कि स्रष्टा ने इस धरती को अपनी सर्वोत्तम कलाकृति के रूप में रचा है। मनुष्य की संरचना ही इस प्रकार की गई है, मानो वह स्रष्टा का दृश्यमान स्वरूप ही हो। ऐसे सृजन को सृष्टि का कर्त्ता व नियंता प्रभु नष्ट नहीं होने दे सकते॥ १४-१७॥

अवशाश्च मनुष्यस्य जायंते स्थितयो यदा।
व्यवस्था-सूत्रधारत्वं स्रष्टा गृह्णाति तु स्वयम्॥१८॥
व्यवस्थापयतीत्थं स येनालोकोदयो भवेत्।
अंधकारेऽवतारस्य प्रक्रियेयं तु विद्यते ॥१९॥

जना आश्वासिताः सर्वे दृढं भगवता स्वयम्।
धर्मग्लानावधर्मस्याभ्युत्थानेऽवतराम्यहम् ॥ २० ॥
अनौचित्यमधर्मं च निराकर्तुं स्वयं प्रभुः।
देवोऽत्रावतरत्येव काले विषमतां गते॥ २१ ॥
कार्यं यन्नभवेत् पूर्णं सामान्यैस्तु जनैरिह।
समापयति तत्सर्वं स्वयं निर्धारणैः स्वकैः॥ २२ ॥
पुरातने च काले स भगवान् विश्वभावनः।
अवातरत् स्थितावत्र विषमायामनेकशः॥ २३ ॥

टीका—मनुष्य के हाथ से जब परिस्थितियाँ बाहर चली जाती हैं तो प्रवाह की बागडोर स्रष्टा स्वयं सँभालते हैं और ऐसी व्यवस्था बनाते हैं, जिससे अंधकार में प्रकाश उत्पन्न हो सके। यह अवतार की प्रक्रिया है। भगवान ने इन लोकवासियों को आश्वासन दिया है कि धर्म की ग्लानि व अधर्म का उत्थान होने पर मैं पृथ्वी पर अवतार लेता हूँ। अधर्म का, अनौचित्य का निवारण करने के लिए विषम वेला में वे स्वयं प्रकट होते हैं और जो काम सामान्य जनों से संपन्न नहीं हो पाता, उसे अपने निर्धारणों द्वारा स्वयं पूर्ण करते हैं। पुरातनकाल में ऐसी ही विषम परिस्थितियों में भगवान ने अनेक बार अवतार लिए हैं॥ १८-२३ ॥

अगस्त्य उवाच—

आदितो देव ! सृष्टेर्ये जाता अद्यावधि प्रभोः।
अवताराः समे वर्ण्या जिज्ञासा श्रोतुमस्ति नः॥ २४ ॥

सत्राध्यक्ष उवाच—

अवताराः प्रभोर्दिव्यदर्शिभिर्दश वर्णिताः।
लीलोद्देश्य-स्वरूपाणि पुराणादिषु दृश्यताम्॥ २५ ॥

टीका—अगस्त्य ने कहा—हे देव ! सृष्टि के आदि से लेकर अब तक हुए भगवान के अवतारों का वर्णन करें, सुनने की जिज्ञासा हो रही है। सत्राध्यक्ष बोले—भगवान के दश अवतारों का दिव्यदर्शियों ने वर्णन किया है। शास्त्रों-पुराणों में उनके स्वरूप, उद्देश्य और लीलासंदोहों का वर्णन है॥ २४-२५ ॥

आद्यो मत्स्यावतारस्तु प्रास्तौषीद् बीजतस्तरोः।
निर्मितेरिव प्रामाण्यं बोधिताः सकला जनाः॥ २६ ॥
साधनानि लघून्यत्रोद्देश्यैरुच्चगतैर्यदि ।
युज्यंते तानि गच्छंति स्वयमेवोच्चतामिह ॥ २७ ॥
सत्यव्रतस्य राजर्षेः कमंडलुगतः स्वयम्।
मत्स्यो वृद्धिं गतो जातः समुद्र इव विस्तृतः॥ २८ ॥

टीका—प्रथम मत्स्यावतार हुआ, जिसने बीज से वृक्ष बनने जैसा उदाहरण प्रस्तुत किया और बताया कि छोटे साधन भी उच्च उद्देश्यों के साथ जुड़ने पर महान हो जाते हैं। राजर्षि सत्यव्रत के कमंडलु में रखी मछली, समुद्र जितनी सुविस्तृत हो गई थी॥ २६-२८ ॥

अवतारो द्वितीयश्च कच्छपोऽभूत्स उत्तमः।
श्रमसहयोगजं सर्वान् बोधयामास स्वं मतम्॥ २९ ॥
प्रेरयामास देवान् स दैत्यानपि पयोनिधिम्।
मथितुं तेभ्य एवायं श्रेयोऽयात्सकलं ततः॥ ३० ॥
स्वयं चाप्रकटो भारं मंदरस्यातुलं प्रभुः।
उवाह पृष्ठे श्रेष्ठानां कर्मोक्तं भूतसौहृदम्॥ ३१ ॥

टीका—द्वितीय कच्छप अवतार हुआ। उसने सहयोग और श्रम से संपदा होने का सिद्धांत समझाया। देवता और असुरों को मिल-जुलकर समुद्र-मंथन के लिए उकसाया। श्रेय उन्हें दिया, स्वयं अप्रकट

रहकर मंदराचल का सारा भार अपनी पीठ पर उठाते रहे। प्राणिमात्र के प्रति हितैषी दृष्टि रखना श्रेष्ठों का कर्त्तव्य है॥ २९-३१ ॥

अवतारस्तृतीयोऽभूद् वराहो युयुधे स्वयम्।
हिरण्याक्षस्य दुर्धर्षप्रवृत्त्या सञ्चयस्य यः॥ ३२ ॥
चकार शमनंपूर्णमाधिपत्यस्य तस्य सः।
सुलभां सम्पदां चक्रे सर्वेभ्यः करुणापरः॥ ३३ ॥

टीका—तृतीय था वाराहावतार, जिसने हिरण्याक्ष की दुर्धर्ष संचय प्रवृत्ति से सीधा मल्लयुद्ध किया। आधिपत्य का शमन किया और धरती की संपदा सर्वसाधारण के लिए दयालु प्रभु ने सुलभ कराई॥ ३२-३३ ॥

नरसिंहावतारश्च चतुर्थोऽभूत्पुपोष यः।
सौहार्द्रे दुर्बले जाते तस्मिन् कालप्रभावतः॥ ३४॥
नीतिमत्ताप्रतीकं च प्रह्लादं संररक्ष यः।
अंते महाबलं दैत्यं हिरण्यकशिपुं प्रभुः॥ ३५ ॥
हत्वा सत्पात्रमेनं च प्रह्लादं जनता-प्रियम्।
स्थाने निवेशयामास सत्पात्रं तस्य संततिम्॥ ३६ ॥

टीका—चतुर्थ नरसिंह अवतार थे। जिनने काल के प्रभाव से सदाशयता के दुर्बल पड़ने पर उसका पुष्ट-पोषण किया। बार-बार नीतिमत्ता के प्रतीक पक्षधर प्रह्लाद को बचाया और अंततः महाबली हिरण्यकशिपु का दमन करके उसके स्थान पर सत्पात्र प्रह्लाद को बैठाया॥ ३४-३६ ॥

वामनः पञ्चमः प्रोक्तः सद्भावं जागृतं व्यधात्।
योऽसुराणां धनं लोकहिते दातुं शशाक च॥ ३७॥

केवलं दमनं नैव विधिः शासनसम्मतः ।
परिवर्तनमाप्यस्ति चेतसो विधिरुत्तमः ॥ ३८ ॥

टीका—पंचम अवतार वामन हैं। उन्होंने असुरों की प्रसुप्त सद्भावना जगाई और वैभव को जनहित में विसर्जन करने में सफलता पाई। बताया कि दमन ही नहीं, हृदय परिवर्तन भी एक महत्त्वपूर्ण उपाय है॥ ३७-३८ ॥

षष्ठः परशुरामश्च विद्यते स्वीचकार यः।
दुष्टतानाशसंकल्पं यतो नैव कदाचन॥ ३९ ॥
पिशाचतां गता लोकाः पशवो नैव शिक्षया।
क्षमयाऽहि विनेतुं च शक्यास्तेन हताः समे॥ ४० ॥
वधेनैव तदा तादृग् युगः संस्कर्तुमिष्यते।
परशुना प्रचंडेन चकारेदमनेकशः ॥ ४१ ॥

टीका—छठा अवतार परशुराम है। उन्होंने दुष्टता के दमन का संकल्प लिया था। पशु और पिशाच वर्ग के लोगों को न विनय से सुधारा जा सकता है, न शिक्षा क्षमा से, इसी से उनका वध किया। प्रताड़ना व वध ही ऐसे युग को सुधार पाते हैं। यही भगवान परशुराम ने अपने प्रचंड परशु का अनेक बार प्रयोग करके कर दिखाया॥ ३९-४१ ॥

सप्तमो राम उक्तश्चावतारो लोक उच्यते।
जनैः श्रद्धायुतैः सर्वैर्मर्यादापुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥
कष्टानि सहमानोऽपि व्यतिचक्राम नो मनाक्।
मर्यादानिरतोऽभूच्च धर्मस्य प्रतिपादने ॥ ४३ ॥
मूर्तिमान् धर्म एवायमुच्यते पुरुषो जनैः।
एकपत्नीव्रती सर्वभूतात्मा वेदशासितः ॥ ४४ ॥

टीका—सातवाँ अवतार राम हैं, जिन्हें श्रद्धालु जनों द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है। उन्होंने स्वयं कष्ट सहे, किंतु मर्यादाओं का व्यतिक्रम नहीं किया। धर्मधारणा के प्रतिपादन में निरत रहे। उन्हें सजीव धर्मपुरुष कहा जाता है। वह वेदनाकूल चरित्र वाले, प्राणिमात्र के हितैषी एक पत्नीव्रती थे॥ ४२-४४॥

कृष्ण एवाष्टमः पूर्णोऽवतारो विद्यते स्वयम्।
दूरीकर्तुमनीतीर्यश्चातुर्यस्य तथैव च ॥ ४५॥
सर्वप्रकारकस्योक्तः कौशलस्यायमुत्तमः ।
नीतिनिर्धारको लक्ष्ये पवित्रे स्थितिरूपतः ॥ ४६॥
परिवर्तनमप्येष स्वीचकारोच्यते जनैः।
नीतिज्ञो यो व्यधान्नीतिं लक्ष्यगां न क्रियागताम्॥ ४७॥

टीका—आठवाँ अवतार कृष्ण का है, जिन्हें अनीति को निरस्त करने के लिए चातुर्य और सर्वविध कौशल का नीति निर्धारक कहा जाता है। लक्ष्य पवित्र होने पर वे परिस्थिति के अनुरूप व्यवहार बदलने पर विश्वास करते थे। उन्होंने नीति को क्रिया के साथ नहीं, लक्ष्य के साथ जोड़ा। वे नीति पुरुष कहलाए॥ ४५-४७॥

बुद्धावतारो नवमो बुद्धिं धर्ममथापि च।
संघं प्रधानरूपेण स्वीचक्रे जनमंगलम्॥ ४८॥
तपः-पौरुषशक्त्या स संघमुच्चात्मनां नृणाम्।
व्यधाद् भूयश्च तान् सर्वान् प्रेषयामास भूतले॥ ४९॥
जनान् प्रशिक्षितान् कर्तुमालोकं दातुमुत्तमम्।
काले तस्मिंस्तदैवाभूद् वसुधा मंगलोदिता॥ ५०॥
काले व्यक्तिषु तत्रैवं बहुप्रचलनेष्वपि।
परिवर्तनमाधातुं साफल्यं प्राप सोऽद्भुतम्॥ ५१॥

अतएवोच्यते बुद्धेर्देवता बुद्ध उत्तमैः।
रोगशोकजराजीर्णं जगद्वीक्ष्याद्रवच्च यः॥ ५२॥

टीका—नवें बुद्धावतार थे। उन्होंने जनहित में बुद्धि, धर्म और संघ को प्रधानता दी। तप और पुरुषार्थ किया। उच्च आत्माओं का समुदाय समेटा उसे प्रशिक्षित करने और आलोक वितरण के लिए विश्व के कोने-कोने में भेजा। इसी से उस समय पृथ्वी मंगलमयी बन पाई। समय को, व्यक्तियों को और प्रचलनों को बदलने में भारी सफलता पाई। इसीलिए श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा उन्हें बुद्धि का देवता कहा जाता है, रोग-शोक व वृद्धता से जर्जर विश्व को देखकर जिनका हृदय करुणा से द्रवित हो गया था॥ ४८-५२॥

प्रज्ञावतारो कल्किश्च निष्कलंकोऽपि वा पुनः।
दशमोऽयं च लोकेऽस्मिन्नवतारस्तु विद्यते॥ ५३॥
अस्यावतरणस्याद्य भूमिका-काल आगतः।
आगते युगसंधेश्च प्रभाते शुभपर्वणि॥ ५४॥
महाप्रज्ञेति रूपे च साद्यशक्तिरनुत्तमा।
गायत्री केवलं लोके युगशक्तिर्भविष्यति॥ ५५॥

टीका—दशवाँ अवतार प्रज्ञावतार है, जिन्हें निष्कलंक (कल्कि) भी कहा गया है। इसके अवतरण की भूमिका का ठीक यही समय है। युगसंधि के इस प्रभात पर्व पर महाप्रज्ञा के रूप में आद्यशक्ति गायत्री ही अब युगशक्ति बनने जा रही है॥ ५३-५५॥

अवतारस्तु ये पूर्वं जातास्तेषां युगे त्विह।
समस्याः स्थानगा जाता उत व्यक्तिगता अपि॥ ५६॥
इदानीं व्यापकास्ताश्च जनमानससंगताः।
क्षेत्रं प्रज्ञावतारस्य व्यापकं विद्यते ततः॥ ५७॥

प्रज्ञावतार एषोऽत्र स्वरूपाद् व्यापको मतः।
सूक्ष्मं युगांतरायाश्च चेतनायाः स्वरूपतः ॥५८॥
तस्यानुकूलमेवात्र चिन्तनं स्याद् विनिर्मितम्।
नाकृतिस्तस्य काऽपिस्यात्परं तस्योत्तमोत्तमाः ॥५९॥
प्रेरणाः संवहन्तस्तेऽसंख्याः प्रज्ञासुताः स्वतः।
कार्यक्षेत्रे गमिष्यंति तेनागंता सुचेतना ॥६०॥
कलेः पूर्वार्ध एवायमुत्तरार्धश्च मन्यताम्।
बुद्धस्य रुद्धकार्यस्यावतारो बौद्धिको महान्॥६१॥
प्रज्ञापरिजनानां स विशालो देवसंघकः।
कालोद्देश्यात्समस्यास्ता समाधास्यति सत्वरम्॥६२॥

टीका—पिछले अवतारों के समय समस्याएँ स्थानीय और व्यक्ति प्रधान थीं। अबकी बार ये व्यापक और जनमानस में संव्याप्त हैं। इसीलिए प्रज्ञावतार का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक है। प्रज्ञावतार का स्वरूप व्यापक होने के कारण युगांतरीय चेतना के रूप में सूक्ष्म होगा और तदनुसार ही चिंतन विनिर्मित होगा। उसकी अपनी कोई आकृति न होगी, पर उसकी उत्तमोत्तम प्रेरणाओं का परिवहन करते हुए असंख्य प्रज्ञापुत्र कार्यक्षेत्र में उतरेंगे, जिससे नई चेतना जगेगी। प्रज्ञावतार कल्कि का पूर्वार्द्ध, व अधूरे छूटे बुद्धि के कार्यों का पूरक है। अतः बुद्धि का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। यह विचारों की क्रांति का महान बौद्धिक अवतार है। प्रज्ञा-परिजनों का विशालकाय देव समुदाय महाकाल का वह उद्देश्य पूरा करेगा, जिससे युग समस्याओं का समाधान हो सके॥ ५६-६२॥

यथा प्राभातिके जाते ऋषयोऽत्रारुणोदये।
अंधकारोऽथ संव्याप्तोऽपैति दूरं तथैव तु॥६३॥

समस्यास्ताः विकाराश्च विपदो वा विभीषिकाः।
समाहिता स्वतः स्युस्ताः प्रज्ञावतरणे भुवि॥ ६४॥
चिंता नैव विधातव्या निराशा नोचिता मता।
नाशयिष्यति नो पृथ्वीं स्रष्टा स्वां कृतिमुत्तमाम्॥ ६५॥
विपद्विभीषिकाभिस्तु समस्याभिश्च पूरिते।
समये भूमिकां कां स भगवान् संविधास्यति॥ ६६॥
ज्ञात्वेदं मोदमायाता जनाः सत्रगताः समे।
प्रज्ञावतारसंबंधे ज्ञातुं जाताः समुत्सुकाः॥ ६७॥

टीका—हे ऋषिगण! जिस प्रकार प्रभात का अरुणोदय होते ही संव्याप्त अंधकार का निराकरण सहज हो जाता है, उसी प्रकार प्रस्तुत समस्याओं, विपत्तियों, विकृतियों एवं विभीषिकाओं का समाधान प्रज्ञावतार के अवतरण से सहज ही संभव हो सकेगा। हमें निराश होने की या चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। जिस स्रष्टा ने इस भूलोक की अनुपम कलाकृति विनिर्मित की है, वह उसे नष्ट न होने देगा। समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं से भी वर्तमान विषम वेला में भगवान के अवतार की क्या भूमिका होगी? यह जानकर सत्र में उपस्थित जनों में सभी को बहुत प्रसन्नता हुई। वे प्रज्ञावतार के संबंध में अधिक कुछ जानने को उत्सुक हो उठे॥ ६३-६७॥

कात्यायन उवाच—

आद्या ये त्ववताराः षट् सामान्यासु तथैव च।
सीमितासु स्थितिष्वेव बभूवुस्ते समेऽपि तु॥ ६८॥
रामावतारो यः प्रोक्तः सप्तमो योऽष्टमश्च सः।
कृष्णावतारः कालेऽस्मिन् द्वयोरेव तयोरलम्॥ ६९॥

लोकशिक्षणलीलायाः संदोहो भविता भुवि।
कार्यान्वितो जगत् स्याच्च येन सन्मंगलं पुनः ॥ ७० ॥
समस्यानां समाधाने प्रसंगेषु बहुष्विह।
नीतीनामुपयोगोऽथ रीतीनां च भविष्यति ॥ ७१ ॥
बुद्धावतार आख्यातो नवमो यः पुरा मया।
पूर्वार्द्धस्तस्य सम्पन्नः शेषोऽयमिति मन्यताम् ॥ ७२ ॥
अपूर्णं कार्यमेकस्य द्वितीयः पूरयिष्यति।
द्वयोर्निधारणेष्वत्र समता च क्रियास्वपि ॥ ७३ ॥
उत्तरार्धोऽयमेवास्य कलेर्दोषान् विधास्यति ।
जीर्णाच्छनैः शनैर्येन मर्त्यः स्याद् देवतोपमः ॥ ७४ ॥
कालखंडोऽयमत्रैवं भूमिकां संविधास्यति ।
कृतस्यास्य युगस्यालं देवप्रेरणया स्वतः ॥ ७५ ॥

टीका—महर्षि कात्यायन ने कहा—प्रथम छह अवतार सामान्य एवं सीमित परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे। सातवाँ राम का और आठवाँ कृष्ण का अवतार ऐसा है, जिसका लोक-शिक्षण, लीलासंदोह प्रज्ञावतार काल में, बहुत अंश में कार्यान्वित होगा, जिससे एक बार फिर सारा जगत मंगलमय बन जाएगा। समस्याओं के समाधान में उन रीति-नीतियों का अनेक प्रसंगों में उपयोग किया जाएगा। नवम् बुद्धावतार को पूर्वार्द्ध और दशम प्रज्ञावतार को उत्तरार्द्ध समझा जा सकता है। एक का अधूरा कार्य दूसरे के द्वारा संपन्न होगा। दोनों के निर्धारणों एवं क्रिया-कलापों में बहुत कुछ समता रहेगी। यह उत्तरार्द्ध ही कलियुग के कारण उत्पन्न दोषों को जर्जर करता जाएगा, परिणाम स्वरूप मानवमात्र देवोपम बनेगा। इस प्रकार यह कालखंड भगवान की प्रेरणा से स्वयं सतयुगी की भूमिका पूरी करेगा॥ ६८-७५ ॥

उद्देश्यत्रयमेवाह भगवान् बुद्ध आत्मनः।
बुद्धं शरणमायामि धर्मं संघं तथैव च॥ ७६॥
निर्धारणानि त्रीण्येव कर्ता कर्मान्वितानि तु।
बौद्धिके नैतिके क्रांतिविधौ सामाजिकेऽपि च॥ ७७॥
संघारामास्तु बुद्धस्य धर्मचक्रप्रवर्तने ।
नालंदाद्यास्तथा तक्षशिलाद्याः स्थापिता इह॥ ७८॥
प्रेषिताश्च ततो देशे तथा देशांतरेष्वपि।
लक्षाधिकाः परिव्राजः सुसंस्काराः प्रशिक्षिताः॥ ७९॥
उपक्रमः स एवात्र प्रज्ञापीठैस्तथैव च।
प्रज्ञापुत्रैः सुसंपन्न इदानीं संविधास्यते॥ ८०॥
यदपूर्णं तदाकार्यं तदेवाद्य विधास्यते।
पूर्णं प्रज्ञावतारेण निष्कलंकेन सत्वरम्॥ ८१॥

टीका—भगवान बुद्ध के तीन उद्देश्य थे—(१) बुद्धं शरणं गच्छामि। (२) धर्मं शरणं गच्छामि। (३) संघं शरणं गच्छामि। यही तीनों निर्धारण प्रज्ञावतार द्वारा बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक-क्रांति के रूप में कार्यान्वित किए जाने हैं। बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन में नालंदा, तक्षशिला जैसे अनेक संघाराम, विहार स्थापित किए गए और उनसे लाखों सुसंस्कृत परिव्राजक प्रशिक्षित करके देश-देशांतरों में भेजे गए। प्रायः वही उपक्रम प्रज्ञापीठों और प्रज्ञापुत्रों द्वारा अब संपन्न किया जाएगा। जो कार्य उन दिनों अधूरा रह गया था, वह निष्कलंक प्रज्ञावतार द्वारा पूर्ण होगा॥ ७६-८१॥

व्यापकत्वान्निराकारो भविष्यत्येष शोभनः।
प्रज्ञावतारो मर्त्यानां बुद्धेः सत्कर्मसु स्पृहा॥ ८२॥

यज्ञदानतपःस्वत्र पावनेषु तु कर्मसु।
बुद्धेः प्रवृत्तिरेवायमवतारो मतोऽतनु॥ ८३॥
प्रेरणां प्रातिनिध्यं स गायत्री-यज्ञसंभवा।
अग्नेः शिखेव तस्येयं शिखारक्ता करिष्यति॥ ८४॥
कंपमानैः सदा वृक्षपल्लवैर्ज्ञायते नरैः।
झञ्झावातो यथादित्यकिरणाः पर्वतस्य तु॥ ८५॥
शिखरेष्वेव पूर्वं तु भ्राजमाना पतंति ते।
तथा प्रज्ञावतारस्य झञ्झावातोपमस्य च॥ ८६॥
प्रवाहस्य तु संज्ञानं वायुपुत्रसमैरलम्।
गुडाकेशोपमैः प्रज्ञापुत्रैः कार्यैर्विधास्यते॥ ८७॥
एतेषां च समेषां तु गतीनामादिमाश्रयाः।
प्रज्ञापीठा भविष्यंति तुलिता उदयाचलैः॥ ८८॥
ज्ञानालोकं तु ये दिव्यं विधास्यंति जगत्यलम्।
येन भूयो नवा दिव्या चेतना प्रसरिष्यति॥ ८९॥

टीका—प्रज्ञावतार व्यापक होने से निराकार होगा। मनुष्यों की बुद्धि सत्कर्म में लगना यज्ञ-दान, तप जैसे पावन कर्मों में बुद्धि की प्रकृति हो जाना ही अशरीरी प्रज्ञावतार है। उसकी प्रेरणा उसका प्रतिनिधित्व गायत्री यज्ञ की अग्निशिखा का प्रतिरूप लाल मशाल करेगा। तूफान का परिचय हिलते वृक्ष-पल्लवों से मिलता है। उदीयमान सूर्य की किरणें सर्वप्रथम पर्वतशिखरों पर चमकती हैं। उसी प्रकार प्रज्ञावतार के तूफानी-प्रवाह का प्रमाण-परिचय हनुमान, अर्जुन जैसे वरिष्ठ प्रज्ञापुत्रों की गतिविधियों से मिलेगा। इनकी हलचल के केंद्र प्रज्ञापीठ होंगे, जो उदयाचल के समान ज्ञानालोक का वितरण समस्त संसार में करेंगे, जिससे नई चेतना जागेगी॥ ८२-८९॥

अवतारप्रसंगोऽयं ध्यानपूर्वकमेव तैः ।
उपस्थितैर्जनैः सर्वैः श्रुतं जिज्ञासुभिस्तदा ॥ १० ॥
निरचिन्वन् समे पुण्यवेलायां पूर्णश्रद्धया ।
युगावतारजायां स्वान् विधास्यामः समर्पितान् ॥ ११ ॥

टीका—अवतार प्रसंग को बहुत ध्यानपूर्वक सभी उपस्थित जिज्ञासुओं ने सुना। उनने निश्चय किया कि युगावतार की इसी पुण्य वेला में वे पूरी श्रद्धा और निष्ठा के साथ अपने को समर्पित करेंगे ॥ १०-११ ॥

अन्त्यः सत्संग एषोऽत्र समाप्तश्च यथाविधि ।
सप्तमस्य दिनस्यैवं सुखं याताश्च येन ते ॥ १२ ॥
भविष्यत्समये भूयो निकटे कुत्रचिद् वयम् ।
सुयोगमीदृशं नूनं प्राप्स्याम इति चोत्सुकाः ॥ १३ ॥
साभिलाषाः समस्तास्ते मुनयोऽथ मनीषिणः ।
प्रतियाताः स्वतः स्वेषु कार्यक्षेत्रेषु हर्षिताः ॥ १४ ॥

टीका—सप्तम दिन का अंतिम सत्संग समाप्त हो गया, जिससे सभी सुख का अनुभव कर रहे थे। फिर कभी निकट भविष्य में ऐसा ही सुयोग मिलने की अभिलाषा लेकर सभी मुनि-मनीषी प्रसन्न होकर अपने-अपने कार्यक्षेत्र को वापस चले गए ॥ १३-१४ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते 'प्रज्ञावतार' इति प्रकरणो नाम
॥ सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ युगदेव-स्तवन ॥

(हिंदी पद्यानुवाद)

भक्तों सदृश विश्वास जिसने निज हृदय में भर लिया।
शुभ चरित्र ऋषियों तुल्य, चिंतन ब्रह्मविद जैसा किया॥
घुल गया जिन इष्ट में कर भावसिक्त उपासना।
जीवन रसायन बन गया, ऐसी प्रखर की साधना॥
आराधना के भाव से करता रहा नित लोकहित।
हर श्वास जिसकी हो गई, आदर्श के प्रति समर्पित॥
सुविचार के संचार से, भ्रम का पराभव कर दिया।
सद्भाव से सुरभित, मुदित, कृतकृत्य जग को कर दिया॥
उस महाप्राज्ञ मनीषि को युगपुरुष, पावन गुण सदन।
युगसाधकों का, देव संस्कृति का सतत शत-शत नमन॥
पीड़ा-पतन से त्रस्त मानव संस्कृति के त्राण हित।
साहस अकेले कर गया, जो वीर नवनिर्माण हित॥
होकर स्वयं ज्योति जलाए दीप अगणित मानवी।
निज ब्रह्मवर्चस से मिटा दी क्रूर सत्ता दानवी॥
नारद, दधीचि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, व्यासादिक सहित।
जिसने निभाई भूमिका मूर्धन्य ऋषियों की महत्॥
भागीरथी तप, परशुधर-सी प्रखरता का जो धनी।
देवत्व के अनुदान जीवन नीति ही जिसकी बनी॥
उस महाप्राज्ञ मनीषि को, युगपुरुष, पावन गुण सदन।
युग साधकों का, देव संस्कृति का, सतत शत-शत नमन॥